अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

मई २०१९

चेतना

(सर्जक सारतत्त्व)

विषय-सूची

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

प्रार्थना/सम्पादकीय	३
चेतना क्या है	५
अपनी चेतना को बदलना	२३

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		४६
आन्तरिक जीवन के बारे में सचेतन बनो	नवजात जी	४९
"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी' से	५२
मेरी अम्माजी (संस्मरण)	वन्दना	५६
आशा के दीप (कविता)	अज्ञात (आवरण ३)	

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

प्रार्थना

हे मेरे प्रभो, तेरा मधुर आनन्द मेरे हृदय को भरता है; तेरी नीरव शान्ति मेरे मन पर राज्य करती है। सब कुछ विश्रान्ति, शक्ति, एकाग्रता, प्रकाश और प्रशान्तता है; और यह सब असीम है, इसमें कोई विभाजन नहीं है। क्या केवल पृथ्वी या समस्त विश्व का निवास है मेरे अन्दर—मैं नहीं जानती; लेकिन हे प्रभो, यह तू ही है जो इस चेतना में निवास करता है और उसे जीवन प्रदान करता है। यह तू ही है जो देखता, जानता और कार्य करता है। केवल तुझे ही मैं हर जगह देखती हूँ, या यूँ कहें कि अब कोई और 'अहम्' नहीं बचा, सब कुछ एक है और यह 'एकत्व' है तू।

हे प्रभो, तेरी जय हो, हे जगत् के स्वामी, तू ही सभी चीज़ों में जगमगा रहा है!

१० मई १९१४ —श्रीमाँ

सम्पादकीय : आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक, दोनों ही साहित्यों में चेतना शब्द बहुधा प्रयोग में आता है। साथ ही, बहुत बार इस शब्द को ठीक तरह से समझा ही नहीं जाता, लेकिन 'चेतना' ही है जो जीवन की प्रत्येक वस्तु के केन्द्र में है। बौद्धिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही तरीक़ों से यह समझने के लिए कि चेतना क्या है, यह आवश्यक है कि हम जीवन और सृष्टि को, आध्यात्मिक यात्रा और स्वयं जीवन के क्रमविकास को समझें। श्रीअरविन्द के योग में भी इस शब्द का बहुत महत्त्व है।

इस अंक में हम चेतना—इसी संकेत-शब्द—पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे जो वस्तुतः 'प्रकाश' का स्रोत है!

ओ प्रज्ञामयी श्री शोभा, इस विश्व की जगन्माता,
सृष्टि की रचनाकार, चिरन्तन की दिव्यवधू कला,
अब निज रूपान्तरकारी वरद हस्त से और विलम्ब न लगा
जो त्रिकाल की एक स्वर्ण अर्गला पर निष्फल ही धरा हुआ है,
क्योंकि महाकाल निज हृदय को,
प्रभु की ओर खोलने का साहस जुटा नहीं पाया है।
जगदानन्द की ओ कान्तिमयी निर्झरणी
तू संसार से मुक्त है और परात्परता में भी अगम्या है,
ओ आनन्दमयी, तू सतत हमारे हृदय की गुह्यता में बसती है
जब कि मानव तुझे बाहर खोजता और कभी नहीं पाता है...

'सावित्री', पृ. ३४५ —*श्रीअरविन्द*

चेतना क्या है

अभिज्ञता तथा शक्ति

हमारी चेतना दो तत्त्वों से बनी है—उसमें होती है आत्मा तथा वस्तुओं के बारे में सचेतनता यानी अभिज्ञता और उसमें दूसरा तत्त्व है, बल तथा सचेतन शक्ति। हमारे अन्दर अभिज्ञता का होना सबसे पहली आवश्यक चीज़ है, तुम्हें उचित चेतना में, उचित तरीक़े से वस्तुओं के बारे में सचेतन होना चाहिये, उन्हें उनके सत्य में देखना चाहिये; लेकिन अपने-आपमें अभिज्ञता पर्याप्त नहीं है। तुम्हारे अन्दर होनी चाहिये एक ऐसी 'इच्छा' तथा ऐसी 'शक्ति' जो चेतना को प्रभावकारी बना दे। किसी के अन्दर यह चेतना पूरी तरह से विकसित हो सकती है कि उसे अपनी प्रकृति में किस चीज़ को बदलना है, किसको हटा देना है और उसके बदले में किसको बिठाना है, लेकिन हो सकता है कि वह यह बदलाव लाने में बिलकुल अक्षम हो। किसी दूसरे व्यक्ति में इच्छा-शक्ति तो हो लेकिन वह उसे उचित तरीक़े से, उचित स्थान पर प्रयुक्त करने में असफल हो। चैत्य चेतना में रहने का लाभ यह है कि तुम्हारे अन्दर उचित अभिज्ञता होती है और चूँकि तुम्हारी इच्छा माँ की इच्छा के साथ सामञ्जस्य में होती है अतः तुम परिवर्तन लाने के लिए श्रीमाँ की शक्ति का आवाहन कर सकते हो। जो लोग मन और प्राण में रहते हैं और इसे इतनी अच्छी तरह करने में समर्थ नहीं होते वे अधिकतर अपने व्यक्तिगत प्रयास का उपयोग करने के लिए बाधित होते हैं, और चूँकि उनकी अभिज्ञता तथा मानसिक और प्राणिक इच्छा तथा शक्ति विभक्त रहते और अपूर्ण होते हैं अतः उनका कार्य भी अपूर्ण और अनिश्चित ही होता है। केवल अतिमानस में ही 'अभिज्ञता', 'इच्छा' तथा 'शक्ति' हमेशा एकमेव गति में चलते हैं और इस तरह अपने-आप ही प्रभावकारी हो जाते हैं।

CWSA खण्ड २८, पृ. २४-२५

अगर चेतना तथा ऊर्जा एक ही समान वस्तु हैं तो उनके लिए दो अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होगी। तब तो यह कहने की बजाय कि "मैं अपने दोषों के बारे में सचेतन हूँ",

व्यक्ति कह सकता है कि "मैं अपने दोषों के बारे में ऊर्जस्वी हूँ।" अगर कोई व्यक्ति तेज़ दौड़ रहा हो तो तुम कह सकते हो कि "वह महान् ऊर्जा के साथ दौड़ रहा है।" क्या तुम मानते हो कि अगर तुम कहो कि "वह महान् चेतना के साथ दौड़ रहा है" तो उसका वही समान अर्थ होगा? चेतना वह है जो चीज़ों के बारे में अभिज्ञ है—ऊर्जा वह शक्ति है जो कार्य करते समय गतिशील बन जाती है। चेतना में ऊर्जा हो सकती है और वह उस ऊर्जा को अपने अन्दर रख सकती या बाहर निकाल सकती है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि चेतना और ऊर्जा शब्दों को एक दूसरे के लिए उपयोग में लाया जा सकता है और यह कि अगर ऊर्जा बाहर चली जाये तो चेतना को भी उसके साथ-साथ चले जाना होगा और यह भी कि वह पीछे खड़ी होकर ऊर्जा को गतिशील होते हुए नहीं देख सकती। तुम्हारे अन्दर तमस् की अति हो सकती है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि तुम और तमस् एक ही वस्तु हो और जब तमस् उठ कर तुम पर अभिभूत हो जाता है तो वह तुम ही हो जो उठ कर अपने ऊपर हावी हो जाते हो। CWSA खण्ड २८, पृ. २५

चेतना के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण

चेतना के बारे में सामान्य दृष्टिकोण दैनन्दिन जीवन के सतही अनुभवों और कुछ-कुछ विज्ञान पर आधारित होता है। क्योंकि भौतिक विज्ञान के लिए तो चेतना है—निश्चेतन जगत् में एक अस्थायी घटना, ऐसी कोई चीज़ जो किसी जीवन्त व्यवस्था में अचानक प्रकट हो गयी, वैसे कुछ लोगों का मत है कि चेतना नाम की वस्तु सबसे पहले जड़ और अचेतन भौतिक में बाहर से आयी। यह जीवन में अन्तर्निहित नहीं थी, क्योंकि उनके अनुसार पौधों में चेतना नहीं होती। वे तो कहते हैं कि मनुष्यों में यह बढ़ती हुई एक ऐसी टिमटिमाहट है जो, जब तक जीवन चलता है, जागते और सोते हुए क्रमशः टिमटिमाती और दिपती रहती है और जीवन के समाप्त होते ही यह भी विलीन हो जाती है। सामान्य मन चेतना को मनुष्य की जाग्रदवस्था की चेतना के साथ एकात्म कर लेता है, कभी-कभी वह कहता है कि पशुओं में भी एक चेतना होती है—हालाँकि उसके बारे में वह निश्चित नहीं होता, क्योंकि कई लोग पशुओं में चेतना की उपस्थिति को स्वीकार

ही नहीं करते। कइयों का मानना है कि मनुष्य जब जीता है तब सचेतन होता है, जब वह मर जाता है तो चेतना ग़ायब हो जाती है। जब वह सोया हुआ, विस्मय-विमूढ़, नशे में या बेहोशी या सम्मोहन की अवस्था में हो तो उसकी चेतना अधर में लटकी होती है, वह अस्थायी रूप से निश्चेतन हो जाता है। यह सतही वैज्ञानिक दृष्टि कहाँ तक सही है या मानने-योग्य है? क्योंकि इसमें दो मूलभूत प्रश्न उठते हैं—क्या जाग्रत् अवस्था की चेतना ही एकमात्र सम्भव चेतना है और यह भी कि क्या चेतना मन का पर्यायवाची है, क्या समस्त चेतना मानसिक है या उसके दूसरे रूप भी सम्भव हैं, जैसे—अतिमानसिक या अवमानसिक?

CWSA खण्ड २८, पृ. १९

चेतना तथा दृश्य तथ्य

मेरे अनुभव के अनुसार चेतना दिखायी देने वाला ऐसा तथ्य नहीं है जो 'प्रकृति' की शक्तियों की प्रतिक्रियाओं पर निर्भर करता हो। यानी, कभी चेतना दिखायी देती है तो कभी ग़ायब हो जाती है। व्यक्ति जगा है तो चेतना है, सोया है तो चेतना नदारद! अगर ऐसा होता तो जब व्यक्ति शान्त और अचञ्चल हो, कोई प्रतिक्रिया न जताये, क्योंकि ऊपर से देखने पर उसके अन्दर कोई क्रिया-प्रतिक्रिया न होगी, तो क्या उसके अन्दर कोई चेतना नहीं होगी! यह चीज़ योग की कुछ मौलिक अनुभूतियों का खण्डन करती है; उदाहरण के लिए, अनन्त रूप से फैली हुई एक नीरव और अचञ्चल 'चेतना' है जो व्यक्ति पर निर्भर नहीं करती, बल्कि निर्वैयक्तिक तथा वैश्व बन जाती है, जो बाहरी सम्पर्कों को न देखती है न उनकी व्याख्या ही करती है बल्कि अचञ्चल रूप से आत्म-सचेतन होती है, जो प्रतिक्रियाओं पर निर्भर नहीं करती और अपनी सचेतनता के बारे में बहुत दृढ़ रहती है। आत्मनिष्ठ व्यक्ति स्वयं अपने-आपमें चेतना है और उसके अन्दर सहजात शक्ति होती है, अर्थात्, उसके उस अस्थायी शरीर की क्रियाशीलता में नहीं, बल्कि व्यक्ति की आन्तरिक सत्ता, उसका 'स्व' या 'पुरुष' चेतना से परिपूर्ण होता है।

चेतना है, समस्त अस्तित्व में अन्तर्निहित वास्तविकता। जब वह सतह पर सक्रिय न हो फिर भी उपस्थित होती है—मौन तथा निश्चल; सतह पर

अदृश्य होते हुए भी वह मौजूद है, भले वह बाहरी चीज़ों के प्रति प्रतिक्रिया न करे, उनके प्रति संवेदनशील न हो, लेकिन अपने-आपको पीछे खींचे हुए, सक्रिय अथवा निष्क्रिय, अन्दर बनी रहती है। ऐसा लगे कि वह वस्तुओं में एकदम है ही नहीं, और भले वह अचेतन और मृत प्रतीत हो, लेकिन चेतना उपस्थित है, अवश्यमेव है।
CWSA खण्ड २८, पृ. १५

विश्व का सृजनकारी तत्त्व

चेतना क्या है?

... यह विश्व का सृजनकारी तत्त्व है—चेतना के बिना कोई विश्व भी नहीं है; क्योंकि चेतना का अर्थ ही है वास्तवीकरण। मैं यह भी कह सकती हूँ कि जो "है" वही चेतना है, क्योंकि चेतना के बिना कोई वस्तु नहीं है—यही सर्वोत्तम कारण है। चेतना के बिना कोई जीवन नहीं, कोई ज्योति नहीं, कोई वास्तवीकरण नहीं, कोई सृष्टि नहीं, कोई विश्व नहीं।

सम्भवतः अनभिव्यक्त 'परात्पर' के अन्दर एक चेतना है (परन्तु जब कोई इन प्रश्नों के सम्बन्ध में बोलता है तो वह असम्भव बातें कहना शुरू कर देता है); कहा जाता है कि प्रारम्भ में 'परात्पर' अपने विषय में अवगत हुए (जिसका अर्थ होगा कि वे उससे पहले अपने विषय में सचेतन नहीं थे! वे एक ऐसी स्थिति में थे जिसे हम "सचेतन" नहीं कह सकते), उनकी प्रथम क्रिया थी अपने विषय में सचेतन होना और एक बार जब वे अपने विषय में सचेतन हो गये तो उन्होंने इस चेतना को प्रक्षिप्त कर दिया और उसने सृष्टि की रचना की। कम-से-कम प्राचीन परम्परा यही बात बतलाती है। मान लो कि कभी भी कोई प्रारम्भ नहीं था, क्योंकि इसे इस प्रकार रखना एक मानवीय तरीक़ा है : "प्रारम्भ" तो स्वयं 'परात्पर' ही हैं—अनभिव्यक्त 'परात्पर' जो अपने विषय में सचेतन होते हैं। सम्भवतः उन्होंने देखा कि यह चेतना पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं है (!) और उन्होंने उसे प्रक्षिप्त किया, पर अपने से बाहर नहीं, क्योंकि कोई भी चीज़ उनसे बाहर नहीं है, बल्कि उन्होंने उसे एक सक्रिय चेतना में बदल दिया ताकि वह स्वयं उन्हीं का एक वास्तविक रूप बन जाये। फलस्वरूप, पूर्ण निश्चयता के साथ यह कहा

जा सकता है कि 'चेतना' ही है समस्त सृष्टि का मूल स्रोत; वास्तव में हम यहीं पर शब्दों के विषय में एकदम निश्चित होते हैं। चेतना ही सारी सृष्टि का मूल है—चेतना के बिना कोई सृष्टि नहीं हो सकती। और जिसे हमलोग "चेतना" कहते हैं वह परात्पर 'चेतना' के साथ प्राप्त एक सुदूर सम्पर्क होता है जिसमें सुनिश्चितता और सुस्पष्टता नहीं होती। अथवा, यदि तुम कहना चाहो, वह मूल 'चैतन्य' का एक प्रतिबिम्ब होता है, और वह भी किसी बिलकुल ठीक या स्वच्छ दर्पण में पड़ा हुआ नहीं। जिसे हम अपनी चेतना कहते हैं वह यह मूल 'चैतन्य' ही है जो कुछ-कुछ धुँधले दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है (कभी-कभी तो दर्पण बहुत ही धुँधला होता है और कभी-कभी बहुत विकृत), यह प्रतिबिम्ब व्यक्तिगत दर्पण में पड़ा होता है। परन्तु इस प्रतिबिम्ब को पकड़ कर, यदि हम धीरे-धीरे उस वस्तु के मूल तक चले जायें जो प्रतिबिम्बित हुई है तो हम 'चैतन्य'—'सत्य-चैतन्य' के साथ सम्पर्क प्राप्त कर सकते हैं। और जब हम एक बार 'सत्य-चैतन्य' के सम्पर्क में आ जाते हैं, हम इस बात से अवगत हो जाते हैं कि सर्वत्र एक ही चेतना है, वास्तव में केवल विकृति ही इसे विभक्त करती है; यदि विकृति न हो तो प्रत्येक वस्तु एक और उसी समान 'चैतन्य' के अन्दर समायी हुई होती है। अर्थात्, केवल विकृति ही, विकृत करने वाले दर्पण में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही 'चैतन्य' के अन्दर विभेद और विभाजन उत्पन्न करता है, अन्यथा वह केवल एक ही 'चैतन्य' है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. २७८-७९

चेतना के ऐक्य द्वारा प्राप्त ज्ञान

चेतना में किसी भी चीज़ के साथ तादात्म्य के द्वारा उसकी जानकारी पाने की क्षमता होती है। लेकिन भागवत चेतना केवल जानती ही नहीं, उसे ज्ञान होता है, वह प्रभाव भी डालती है। केवल जानना ज्ञान नहीं है। उदाहरण के लिए, किसी स्पन्दन के बारे में जानकारी होने का मतलब यह नहीं है कि तुम उसके बारे में सब कुछ जानते हो। जब चेतना भागवत चेतना में भाग लेती है तभी वह किसी वस्तु के साथ तादात्म्य साध कर पूरा ज्ञान प्राप्त कर सकती है। साधारणतः, तादात्म्य ज्ञान की जगह अज्ञान की ओर ही ले जाता है, क्योंकि चेतना जो बनती है उसी में खो

जाती है और ठीक कारणों, उससे जुड़ी वस्तुओं और परिणामों के बारे में विचार नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए, तुम क्रोध की एक गति के साथ एकात्म हो जाते हो और तुम्हारी सारी सत्ता एक क्रोधमय स्पन्दन बन जाती है—अन्धी, अँधाधुन्ध और बाक़ी सबके बारे में विस्मरणशील। तुम सारी प्रक्रिया को ज़रा पीछे हट कर, आवेगमय खलबली के बीच में भी अनासक्त रह कर, जानने वाली आँख से देख सकते हो। चेतना की साधारण स्थिति में किसी चीज़ का ज्ञान उससे ज़रा पीछे हट कर, उसके साथ एक हुए बिना निरीक्षण करने से पाया जाता है। लेकिन भागवत चेतना अपने-आपको वस्तु के साथ एक करके ही सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करती है, क्योंकि वह हमेशा हर तथ्य के अन्दर स्थित मौलिक सत्य या विधान के साथ एक होती है। और वह केवल जानती ही नहीं है बल्कि जानने के द्वारा जो करना चाहती है वह करवा भी लेती है। उसके लिए सचेतन होने का अर्थ है : प्रभावशाली होना—उसकी हर एक गति सर्वशक्तिमत्ता की एक कौंध होती है जो प्रकाशित करने के अतिरिक्त अपनी सत्य-प्रकृति के द्वारा आदिष्ट लक्ष्य की ओर पथ प्रशस्त करती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १७९

स्वतन्त्रता तथा पूर्वनिश्चितता

भगवान् की योजना में क्या हर एक घटना का काल भी निश्चित रहता है?

सब कुछ इस पर निर्भर होता है कि कौन किस स्तर से देखता और बोलता है। भागवत चेतना का एक स्तर है जहाँ सब कुछ पूर्णतः जाना हुआ रहता है और सृष्टि की समस्त योजना पूर्वदृष्ट और पूर्वनिश्चित रहती है। इस प्रकार की दृष्टि तो अतिमानस लोक के उच्चतम स्तर पर पहुँचने पर ही प्राप्त होती है; यह परम पुरुष की अपनी दृष्टि है। परन्तु जब हमारे पास वह चेतना नहीं है तो वहाँ की बातें करना निरर्थक है, क्योंकि वहाँ की बातें उस स्तर पर ही काम देती हैं और वे हमारी वर्तमान दृष्टि से परे हैं। चेतना के निम्नतर स्तर पर पहले से कुछ भी संसिद्ध या नियत नहीं होता; सब कुछ तैयार होने की प्रक्रिया में रहता है। यहाँ निश्चित तथ्य नहीं होते,

केवल सम्भावनाओं का खेल होता है; और इन सम्भावनाओं के संघर्ष में से ही वह वस्तु संसिद्ध की जाती है जो होने को है। हम इस स्तर पर पसन्द और चुनाव कर सकते हैं; हम एक सम्भावना को त्याग कर दूसरी को स्वीकार कर सकते हैं; एक मार्ग का अनुसरण कर दूसरे को छोड़ सकते हैं। हम यह सब कर सकते हैं, फिर भी हो सकता है कि जो हो रहा है वह वस्तुतः किसी उच्चतर स्तर पर पूर्वदृष्ट और पूर्वनिश्चित हो।

परम चेतना हर बात को पहले से जानती है, क्योंकि उसकी अनन्तता में सब कुछ पहले से ही संसिद्ध होता है। परन्तु अपनी लीला के लिए और जो कुछ उसकी परम आत्मा में पूर्वनिर्दिष्ट है उसे पार्थिव स्तर पर कार्यान्वित करने के लिए यहाँ पृथ्वी पर वह इस प्रकार विचरण करती है मानों समस्त कहानी उसे ज्ञात ही न हो, वह इस प्रकार कार्य करती है मानों वह किसी नये और अपरिचित सूत को बुन रही हो। उच्चतर चेतना में पूर्वज्ञान के सम्बन्ध में उसकी ऊपर से दिखने वाली यह विस्मृति क्रियात्मक जीवन में व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता, स्वाधीनता और आरम्भ-शक्ति का भान कराती है। व्यक्ति के ये तत्त्व ही उस चेतना के व्यावहारिक यन्त्र और साधन हैं और इनके द्वारा ही ऐसी गतियों और परिणामों को इस पार्थिव स्तर पर सिद्ध किया जा सकता है जिन्हें अन्य स्तर पर पहले से देखा जा चुका हो और उनकी योजना बनायी जा चुकी हो।

यदि तुम नाटक के एक पात्र का उदाहरण लो तो इस विषय को समझने में सहायता मिलेगी। नाटक के पात्र को अपनी भूमिका का पूरा-पूरा ज्ञान रहता है, रंगमंच पर होने वाली घटना का ठीक-ठीक क्रम और परिणाम उसके मन में होता है। परन्तु जब वह रंगमंच पर होता है तो उसे ऐसे दिखाना पड़ता है मानों वह कुछ जानता ही नहीं; उसे इस प्रकार अनुभव और अभिनय करना पड़ता है मानों वह इन सब बातों को जीवन में पहली बार अनुभव कर रहा है, मानों आकस्मिक घटनाओं और आश्चर्यों से भरा हुआ कोई एकदम नया जगत् उसकी आँखों के आगे खुल रहा है।

तो क्या वास्तविक स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज़ है ही नहीं? या सब कुछ, यहाँ तक कि जीव की स्वतन्त्रता भी पूर्ण रूप से पूर्वनिर्धारित रहती है, और क्या प्रारब्धवाद ही परम रहस्य है?

स्वतन्त्रता और प्रारब्ध, स्वाधीनता और नियतिवाद, ये चेतना के विभिन्न स्तरों के सत्य हैं। अज्ञान के कारण मन इन्हें एक ही स्तर पर लाकर रख देता है और इनमें विरोध देखता है। चेतना एक ही प्रकार की सद्वस्तु नहीं है, वह बहुविध है, वह किसी समतल भूमि जैसी नहीं है, उसके अनेक आयाम हैं। उच्चतम ऊँचाई पर परम पुरुष हैं और निम्नतम गहराई में जड़-प्रकृति है और इस निम्नतम गहराई और उच्चतम ऊँचाई के बीच में चेतनाओं के अनन्त स्तरों का क्रमविन्यास है।

जड़-प्रकृति के क्षेत्र में और साधारण चेतना के स्तर पर तुम्हारे हाथ-पैर बँधे रहते हैं। प्रकृति की यान्त्रिकता के ग़ुलाम होने के कारण तुम कर्म की साँकल से जकड़े हुए हो, और इस साँकल के बन्धन में रहते हुए जो कुछ होता है वह अचूक रूप से पूर्वकर्मों के परिणामस्वरूप होता है। इस अवस्था में स्वतन्त्र गति का जो भान होता है वह भ्रम है, यथार्थ में जो दूसरे करते हैं तुम भी उसी को दोहराते रहते हो, प्रकृति की जो विश्वगतियाँ हैं तुम उनकी प्रतिध्वनिमात्र हो, तुम उसके विश्वयन्त्र के कुचल देने वाले माया-चक्र पर चढ़ कर असहाय रूप से चक्कर खाते रहते हो।

परन्तु यह होना आवश्यक नहीं है। तुम चाहो तो अपनी स्थिति को बदल सकते हो और नीचे पड़े रह कर रौंदे जाने या कठपुतली की तरह नचाये जाने के बदले ऊपर उठ सकते हो और वहीं से संसार-चक्र और उसकी अवस्थाओं को देख सकते हो तथा तुम अपनी चेतना के परिवर्तन द्वारा इस चक्र को घुमाने वाले किसी हत्थे को क़ब्ज़े में कर सकते हो जिससे अनिवार्य दीखने वाली इन घटनाओं का परिचालन कर सको और निश्चित अवस्थाओं को बदल सको। एक बार तुम अपने-आपको इस भँवर से बाहर निकाल कर ऊपर खड़े हो सको तो अपने-आपको मुक्त पाओगे, इतना ही नहीं कि विवशताओं से मुक्ति पाकर तुम प्रकृति के निष्क्रिय उपकरण न रहोगे बल्कि, तुम उसके सक्रिय प्रतिनिधि बन जाओगे। केवल यही नहीं कि तुम अपने कर्मफलों के बन्धन से मुक्त हो जाओगे बल्कि तुम अपने कर्मफल को बदल भी सकोगे। एक बार तुम शक्तियों की लीला को देख पाओ, चेतना के उस स्तर में ऊपर उठ जाओ जहाँ से शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है और इन गतिशील उद्गमों के साथ अपने-आपको एक कर लो, तो तुम उस श्रेणी के नहीं रहोगे जिसे परिचालित किया जाता है,

बल्कि उस श्रेणी के हो जाओगे जो परिचालन करती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ३३-३५

चेतना तथा उसके उपकरण

दो चीज़ें विचारणीय हैं : चेतना और वे उपकरण जिनके द्वारा चेतना अभिव्यक्त होती है। पहले उपकरणों की बात लें : हमारे पास मनोमय सत्ता है जो विचार उत्पन्न करती है, भावनात्मक सत्ता है जो भावनाएँ उत्पन्न करती है, प्राणिक सत्ता है जो कार्य की शक्ति उत्पन्न करती है और शारीरिक सत्ता है जो कार्य करती है।

प्रतिभाशाली व्यक्ति चाहे जिस चीज़ का उपयोग करके कोई सुन्दर चीज़ बना सकता है, क्योंकि उसमें प्रतिभा है : किन्तु उसी प्रतिभाशाली व्यक्ति को कोई निर्दोष, पूर्ण यन्त्र दे दो तो वह एक अद्‌भुत चीज़ बना देगा। एक महान् संगीतज्ञ की बात लो। यदि उसके हाथों में कोई रद्दी पियानो दे दिया जाये, जिसमें कुछ सुर ही ग़ायब हों, फिर भी वह कोई सुन्दर चीज़ निकाल देगा; किन्तु उसके हाथ में कोई अच्छा, सुरीला पियानो दे दिया जाये तो वह और भी अधिक सुन्दर चीज़ उत्पन्न करेगा। दोनों ही दशाओं में चेतना वही है, किन्तु अभिव्यञ्जना के लिए उसे एक अच्छे यन्त्र की आवश्यकता होती है—एक ऐसा शरीर होना चाहिये जिसमें मानसिक, प्राणिक, आन्तरात्मिक और शारीरिक क्षमताएँ विद्यमान हों।

यदि तुम्हारे शरीर की गठन बुरी हो, शरीर बेडौल हो तो अच्छी शिक्षा के बाद भी किसी सुगठित, सुन्दर शरीरवाले व्यक्ति की तरह अच्छे ढंग से व्यायाम करना तुम्हारे लिए कठिन होगा। यही बात मन के साथ भी है—जिसका मन सुव्यवस्थित, विमिश्र, पूर्ण और परिमार्जित होता है वह अपने-आपको साधारण स्तर के या कुव्यवस्थित प्रकार के मनवाले मनुष्य की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर सकेगा। सबसे पहले तुम्हें अपनी चेतना को शिक्षित करना चाहिये, अपने विषय में सचेतन होकर अपनी चेतना को अपने आदर्श के अनुरूप व्यवस्थित करना चाहिये, किन्तु साथ-ही-साथ तुम उन यन्त्रों की भी उपेक्षा नहीं कर सकते जो तुम्हारे शरीर में हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४९

जाग्रत् तथा निद्रित चेतना

... तुम देखते हो न कि कुछ दिन ऐसे होते हैं जब कि सब कुछ ठीक-ठीक चलता है, तुम्हारी वाणी में ओज रहता है, तुम्हारे विद्यार्थी तुम्हारी बात ध्यान से सुनते हैं और आसानी से समझते हैं। किन्तु अन्य ऐसे दिन भी आते हैं जब तुम्हें जो चीज़ पढ़ानी होती है वह आती ही नहीं, बच्चे सुनते ही नहीं, अर्थात् तुम स्वयं ऊबे होते हो और दूसरों को भी उबा देने वाले होते हो। इसका अर्थ यह है कि पहली दशा में तुम्हारी चेतना जाग्रत् थी और तुम्हारे कार्य पर एकाग्र थी, जब कि दूसरी दशा में वह कम या अधिक निद्रित थी—तुम बिलकुल बाह्य साधनों पर निर्भर थे। किन्तु इस दशा में, यदि तुम्हारे पास उस विषय के ज्ञान का कुछ भण्डार हो तो तुम अपने विद्यार्थियों को कुछ कह सकते हो; यदि तुम्हारा मन सुशिक्षित हो, तैयार हो, यदि वह एक अच्छा यन्त्र हो जो तुम्हारे व्यवहार करने के समय भली-भाँति उत्तर दे सकता हो, और यदि सब आवश्यक टिप्पणियाँ और विचार भी तुम्हारे पास एकत्रित हों तो सब कुछ ठीक-ठीक चलेगा। किन्तु यदि तुम्हारे मस्तिष्क में कुछ भी न हो और उसके साथ-साथ तुम अपनी उच्चतर चेतना के सम्पर्क में भी न होओ तो इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं कि तुम कोई किताब ले लो और अपना पाठ पढ़ कर सुना दो—तुम्हें किसी दूसरे व्यक्ति के मन का उपयोग करने के लिए बाध्य होना होगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ५०

चेतना की भिन्न अवस्थाएँ

मधुर माँ, जब हम सोते हैं तो हमारी चेतना जाग्रत् अवस्था की चेतना से भिन्न होती है... यह किस तरह भिन्न होती है?

क्या तुमने कभी यह ख़याल नहीं किया कि यह भिन्न होती है? उदाहरण के लिए, तुम्हारी भौतिक चेतना, या तुम्हारी सूक्ष्म भौतिक चेतना, तुम्हारी प्राणिक चेतना या तुम्हारे निम्न प्राण या उच्चतर प्राण की चेतना, तुम्हारी चैत्य चेतना, तुम्हारी मानसिक चेतना, हर एक बिलकुल अलग-अलग है! तो, जब तुम सोते हो तो तुम्हारे अन्दर एक चेतना होती है, और जब तुम जागते हो तो एक और ही। जाग्रत् अवस्था में तुम अपने बाहर प्रक्षिप्त

चीज़ों को देखते हो और सोते समय तुम अन्तर्मुख चीज़ों को देखते हो। तो यह ऐसा है मानों एक अवस्था में तुम अपने-आपसे बिलकुल बाहर, सामने धकेल दिये गये हो और दूसरी अवस्था में मानों तुम अपने-आपको एक आन्तरिक दर्पण में देखते हो। नहीं समझे? अच्छी तरह नहीं!

हाँ, तो यह ऐसी चीज़ है जिसमें भेद करना तुम्हें सीखना चाहिये, चेतना की इन अवस्थाओं में भेद करना सीखना चाहिये, नहीं तो तुम सतत उलझन में जीते हो। वास्तव में, यह मार्ग पर पहला पग है, यह धागे का आरम्भ है, अगर तुम सिरे पकड़े न रहोगे, तो तुम रास्ते में भटक जाओगे। यह धागे के एक सिरे को पकड़ना-भर है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १४६-४७

हर एक समग्र का भाग है

माँ, यहाँ लिखा है: "... व्यष्टिगत और वैश्व चेतना के बीच पृथक् करने वाली अज्ञान की दीवार है।" तो इस दीवार को कैसे तोड़ा जाये?

अज्ञान से पिण्ड छुड़ा लो, ज्ञान में प्रवेश करो।

सबसे पहले तुम्हें वह जानना चाहिये जो मैंने अभी बतलाया, कि तुम एक समग्र के भाग हो, कि यह समग्र एक और बड़े समग्र का भाग है, और यह बड़ा समग्र उससे अधिक बड़े समग्र का भाग है, यहाँ तक कि ये सब मिल कर एकमात्र समग्रता बनते हैं। एक बार तुम यह जान लो तो तुम्हें इस बात का भान होने लगता है कि वास्तव में तुम्हारे और तुमसे बड़े के बीच, जिसका तुम भाग हो, कोई पृथक्ता नहीं हो सकती। यह प्रारम्भ है। अब, तुम्हें केवल इसे सोचने के ही नहीं, बल्कि इसे अनुभव करने और इसे जीने के बिन्दु तक पहुँचना चाहिये और तब अज्ञान की दीवार ढह जाती है: तब व्यक्ति इस एकता का अनुभव हर जगह करता है और यह जान लेता है कि वह अपने से बहुत अधिक विशाल समग्र का, जो यह विश्व है, न्यूनाधिक रूप से एक आंशिक भाग है। तब वह अधिक वैश्व चेतना प्राप्त करने लगता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २६०

वैयक्तिक तथा वैश्व चेतना

मनुष्य में चेतना अन्तर्निहित होती है, वह यहाँ चीज़ों में इसलिए अन्तर्लीन तथा छिपी हुई है ताकि वह आभासी निश्चेतना से निकल कर व्यक्ति के जीवन में स्वयं को व्यवस्थित कर ले। हम केवल सतह के बारे में ही अभिज्ञ होते हैं क्योंकि हम सतह पर रहते हैं। इस सतह (मनुष्य का सामान्य जाग्रत् मन) को ही हम मानते हैं कि हम वही हैं, कि हम पूरे-पूरे हैं, क्योंकि हम इसी ऊपरी तल पर ही जीते हैं और बस उसी के बारे में सचेतन रहते हैं। लेकिन हमारे अन्दर अन्धकार की या विस्मृति की एक दीवार-सी होती है, इसके और बाहरी सत्ता के बीच होती है हमारी आन्तरिक सत्ता, होता है हमारा अन्तरिक मन, प्राण तथा हमारी भौतिक सत्ता और साथ ही होती है एक गूढ़ आन्तरिक सत्ता या चैत्य सत्ता जिसके बारे में हम कुछ नहीं जानते। हम बस उसी को जानते हैं जो अन्दर से बाहर सतह पर आता है, लेकिन अन्दर के उसके स्रोत को नहीं पहचानते, यह नहीं जानते कि वह कैसे ऊपर उठ आता है। योग के द्वारा वह दीवार धीरे-धीरे ढहने लगती है और हम इस आन्तरिक और गहनतम गूढ़ सत्ता के प्रति अवगत हो जाते हैं—यह करके हम एक नूतन, यौगिक चेतना विकसित कर लेते हैं जो चारों तरफ़ की वैश्व चेतना तथा ऊपर की उच्चतर आध्यात्मिक चेतना के साथ सीधा सम्पर्क साधने में सक्षम होती है।

जैसे कि व्यक्ति में अपनी वैयक्तिक चेतना होती है, वैसे ही एक वैश्व चेतना, सार्वभौम 'सत्ता', वैश्व 'मन', वैश्व 'जीवन', वैश्व भौतिक सचेतन 'चेतना' होती है। हम उसके बारे में कुछ नहीं जानते क्योंकि हम अपने बाहरी व्यक्तित्व की कारा में बन्द रहते हैं। आन्तरिक जागरण तथा ऊर्ध्वमुखी उद्घाटन द्वारा हम इस सार्वभौम 'चेतना', सार्वभौम 'प्रकृति' तथा सार्वभौम 'स्व' तथा उसकी गतियों के प्रति सचेतन हो जाते हैं; तब हमारी चेतना विस्तृत होकर उन परम के साथ एक हो सकती है। हमारे जाने बिना ही वैश्व 'प्रकृति' की शक्तियाँ हमारे अन्दर हमेशा कार्य करती रहती हैं ताकि वे अपनी क्रियाओं के द्वारा व्यापक रूप में हम पर एक नियन्त्रण ला सकें। विश्व के प्रति सचेतन होकर हम उसकी क्रिया के बारे में जान सकते और उसे नियन्त्रण में रख सकते हैं।

CWSA खण्ड २८, पृ. १९-२०

चेतना का दबाव अन्तर पैदा करता है

सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि चेतना अपने-आपको कहाँ रखती और केन्द्रित होती है। अगर चेतना स्वयं को अहंकार के साथ जोड़ दे और उसका हाथ पकड़ ले तो तुम अहंकार के साथ एक हो जाते हो— अगर वह मन का साथ दे तो तुम मन और उसके क्रिया-कलापों इत्यादि के साथ तदात्म हो जाते हो। अगर चेतना अपना दबाव बाहर की ओर रखे तो वह बाहरी सत्ता में ही निवास करती है और अपने आन्तरिक मन, प्राण तथा अपनी अन्तरतम चैत्य सत्ता को बिलकुल भुला बैठती है; अगर वह आन्तरिक जीवन में प्रवेश कर जाये, वहाँ केन्द्र में, उससे भी गहरे, चैत्य सत्ता में अपना दबाव रखे तो वह आन्तरिक सत्ता के रूप में स्वयं को पहचान लेती है; अगर वह शरीर से बाहर निकल कर, ऊपर के उन स्तरों पर चली जाये जहाँ आत्मा स्वभावतः अपने विस्तार तथा अपनी स्वतन्त्रता के प्रति सचेतन होती है तो वह चेतना मन, प्राण या शरीर के रूप में नहीं बल्कि स्वयं को 'स्व' के रूप में जान लेती है। चेतना के इसी दबाव से सारे अन्तर आते हैं। चेतना का यह नियन्त्रण, या यह कहें कि उसका यह विन्यास ही प्रत्येक चीज़ का निश्चय करता है, वही मनुष्य को प्रमुख रूप से मानसिक, प्राणिक, भौतिक या चैत्य, सीमित या स्वतन्त्र, 'पुरुष' से पृथक् या 'प्रकृति' में अन्तर्लीन बनाता है।

CWSA खण्ड २८, पृ. २०-२१

मनुष्य की दोहरी चेतना

मनुष्य में हमेशा ही दो अलग चेतनाएँ रहती हैं; एक बाहरी जिसमें वह सामान्यतया रहता है और दूसरी आन्तरिक और छिपी हुई जिसके बारे में वह कुछ नहीं जानता। जब व्यक्ति साधना करता है तो उसकी आन्तरिक चेतना खुलना आरम्भ कर देती है और वह अपने अन्दर पैठने और वहाँ हर तरह के अनुभव पाने में समर्थ होता है। जैसे-जैसे साधना आगे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे वह इस आन्तरिक सत्ता में अधिकाधिक निवास करने लगता है और बाह्य अधिकाधिक सतही होती जाती है। पहले पहल तो आन्तरिक चेतना सपना प्रतीत होती है और बाहरी सत्य। बाद में आन्तरिक चेतना वास्तविकता बन जाती है और बाहरी बहुतों को सपना या मिथ्या

अथवा कोई सतही और बाहरी वस्तु लगती है। आन्तरिक चेतना गभीर शान्ति, प्रकाश, आनन्द, प्रेम, भगवान् के साथ सामीप्य अथवा भगवान् तथा श्रीमाँ की उपस्थिति का स्थान होने लगती है। तब व्यक्ति दो चेतनाओं के बारे में सचेतन हो जाता है—एक आन्तरिक और एक बाहरी, और उस बाहरी चेतना को उसकी प्रतिवस्तु अर्थात्, आन्तरिक में परिवर्तित कर देना तथा उसका यन्त्र बना देना होगा—वह भी शान्ति, प्रकाश और भगवान् के साथ एकात्मता के भाव से लबालब भर जानी चाहिये। जब तक यह न हो जाये व्यक्ति दोनों के बीच झूलता रहता है और इस अवधि में उसे विभिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं जो स्वाभाविक हैं। उनके बारे में उसे ज़रा भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये बल्कि आन्तरिक चेतना के पूर्ण विकास के लिए प्रतीक्षा करनी चाहिये जिसमें निवास करने में अन्ततः वह सक्षम होगा।

*

मनुष्यों में हमेशा दोहरा स्वभाव, यानी दोहरी प्रकृति होती है, आन्तरिक (चैत्य तथा आध्यात्मिक) जो भगवान् के साथ सम्पर्क में होती है; बाहरी —मानसिक, प्राणिक तथा शारीरिक—जो अज्ञान में पनपती है और दोषों, अपूर्णताओं और अपवित्रताओं से भरी होती है। यही कारण है कि साधना में चीज़ें पलक झपकते नहीं बदली जा सकतीं। आन्तरिक अनुभूति विकसित होती हुई, प्रकृति में अधिकाधिक फैल कर उसे क्रमशः भरती जाती है, लेकिन जब तक सारी बाहरी प्रकृति आन्तरिक अनुभूति से भर नहीं जाती, कहीं न कहीं अपूर्णताएँ बनी ही रहती हैं।

CWSA खण्ड २८, पृ. ८९-९०

व्यक्ति के चारों तरफ़ विद्यमान चेतना

हर एक अपने चारों तरफ़ एक ऐसी चेतना या वातावरण लिये चलता है जिसके द्वारा वह दूसरों के साथ या वैश्व शक्तियों के साथ सम्बन्ध रखता है। इसी के द्वारा दूसरों की सभी शक्तियाँ, विचार अथवा मनोभाव उसके अन्दर प्रवेश करते हैं।

व्यक्ति भौतिक शरीर से सीमित नहीं है—केवल बाहरी चेतना ही ऐसा अनुभव करती है। जैसे ही मनुष्य इस सीमाबन्धन की भावना से परे चला

जाता है, वह पहले आन्तरिक चेतना को अनुभव कर सकता है जो शरीर के साथ सम्बद्ध है, पर इसका अंग नहीं है, उसके बाद शरीर से ऊपर की चेतना के स्तरों को अनुभव कर सकता है, साथ ही शरीर के चारों ओर विद्यमान चेतना को भी अनुभव कर सकता है पर उसे अपने भाग के रूप में, व्यक्तिगत सत्ता के भाग के रूप में अनुभव कर सकता है जिसके द्वारा मनुष्य विश्व-शक्तियों तथा अन्य सत्ताओं के साथ सम्पर्क स्थापित करता है। अन्तिम चीज़ वह है जिसे मैंने पारिपार्श्विक चेतना का नाम दिया है।

प्रत्येक मनुष्य की निजी व्यक्तिगत चेतना उसके शरीर में डूबी होती है और उसके परिपार्श्व के साथ उसका सम्पर्क केवल शरीर और इन्द्रियों तथा इन्द्रियों का व्यवहार करने वाले मन के द्वारा होता है।

फिर भी सारे समय वैश्व शक्तियाँ, उसके बिना जाने, उसके अन्दर अपने-आपको उँडेलती रहती हैं। वह केवल विचारों, भावों आदि के बारे में अवगत होता है जो ऊपरी तल पर उठते हैं और इन्हें वह अपनी चीज़ें समझता है। वास्तव में ये बाहर से मन-तरंगों, प्राण-तरंगों, भावों और संवेदनों की तरंगों आदि के रूप में आते हैं जो उसके अन्दर विशेष रूप ग्रहण करते तथा अन्दर प्रवेश करने के बाद ऊपर सतह पर आ जाते हैं।
CWSA खण्ड २८, पृ. २१३

शरीर की चेतना

जब शरीर को किसी चीज़ की ज़रूरत हो और उसे मालूम हो कि उसे क्या चाहिये, और प्राण कुछ और ही चाहता हो और मन उससे भी अलग कुछ और, तो उनमें ख़ासी बहस हो सकती है, विरोध और संघर्ष हो सकते हैं। और तुम बहुत स्पष्ट रूप से देख सकते हो कि शरीर का सन्तुलन क्या होता है, अपने-आपमें शरीर की क्या आवश्यकता है और किस तरह प्राण हस्तक्षेप करता और बहुधा इस सन्तुलन को बिगाड़ देता और विकास को इतना अधिक नुकसान पहुँचाता है—क्योंकि वह अज्ञानी है। और जब मन आता है तो वह एक और तरह की अव्यवस्था पैदा कर देता है, वह अपने विचार, अपनी धारणाएँ, अपने सिद्धान्त और नियम, अपने विधान आदि को घुसा कर प्राण और शरीर के बीच व्याप्त अव्यवस्था में एक और अव्यवस्था बढ़ा देता है। वह दूसरों की आवश्यकताओं को

ठीक-ठीक हिसाब में नहीं लेता। वह बस वही करना चाहता है जो हर एक करता है। पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों का स्वास्थ्य बहुत अधिक नाज़ुक और अनिश्चित होता है, क्योंकि यहाँ मन हस्तक्षेप करता है और सन्तुलन बिगाड़ देता है। शरीर को यदि अकेला छोड़ दिया जाये तो उसे बड़ा निश्चित सहज बोध प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए, यदि शरीर को अपने हाल पर छोड़ दिया जाये तो वह कभी बिना ज़रूरत के न खायेगा, कोई ऐसी चीज़ न लेगा जो उसके लिए हानिकर हो। जब उसे नींद की ज़रूरत होगी वह सो जायेगा, जब उसे कुछ करने की ज़रूरत होगी तब करेगा। शरीर का सहज बोध बहुत निश्चित होता है। प्राण और मन ही उसमें बाधा डालते हैं। एक अपनी कामनाओं और सनकों के द्वारा और दूसरा अपने सिद्धान्तों, मान्यताओं, विधानों और विचारों के द्वारा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३२३-२४

चेतना के केन्द्र अथवा चक्र

केन्द्रों अथवा चक्रों की संख्या सात है—

१. ललाट के ऊपर—सहस्रदल-कमल।

२. ललाट के मध्य—आज्ञा-चक्र (संकल्प, अन्तर्दर्शन, ऊर्जस्वी विचार)।

३. कण्ठ-चक्र—बहिर्मुख मन।

४. हृदय-पद्म—भावुक केन्द्र। इसके पीछे चैत्य है।

५. नाभि—उच्चतर प्राण (यथार्थ)।

६. नाभि के नीचे—निम्नतर प्राण।

७. मूलाधार—भौतिक।

ये सभी चक्र शरीर के बीच में हैं; कहा जाता है कि ये रीढ़ की हड्डी से जुड़े होते हैं; लेकिन वस्तुतः ये सभी चीज़ें सूक्ष्म-शरीर या देह में होती हैं, यद्यपि जब चेतना जाग्रत् हो तो उनकी क्रियाओं से ऐसा अनुभव होता है मानों ये सभी क्रियाएँ भौतिक शरीर में हो रही हैं।

योग के सन्दर्भ में चक्र

योग के सन्दर्भ में ही हम चक्रों के खुलने की चर्चा करते हैं। जन-साधारण में ये चक्र उद्घाटित नहीं होते। केवल तभी जब लोग साधना

करते हैं कि चक्र खुलते हैं। क्योंकि चक्र आन्तरिक चेतना के केन्द्र हैं और मूलभूत रूप से सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध रखते हैं। सामान्य लोगों में बाहरी चेतना इतनी सक्रिय होती है कि सूक्ष्म शरीर के साथ उनका सम्बन्ध न के बराबर होता है।

... चेतना के केन्द्रों के खुलने से ही यौगिक या आन्तरिक चेतना विकसित होती है—अन्यथा तुम बाहरी चेतना से ही बँधे रहते हो।

साधना के दौरान व्यक्ति चैत्य-केन्द्र या अन्य किसी भी केन्द्र से गुज़रता नहीं है बल्कि ये सभी केन्द्र या चक्र साधना के दबाव से खुलते हैं। तुम कह सकते हो कि 'शक्ति' किसी चक्र में ऊपर से उतरती या नीचे से चढ़ती है।

रीढ़ की हड्डी सभी चक्रों को सहारा देती है और तान्त्रिक साधना में वहीं से कुण्डलिनी जाग्रत् होती है।

CWSA खण्ड २८, पृ. २२९, २३१-३२

चैत्य पुरुष के प्रति सचेतन बनना

चैत्य जगत् अथवा उसकी चेतना की भूमिका जगत् का वह भाग है, चैत्य पुरुष हमारी सत्ता का वह भाग है जो सदा 'भागवत चेतना' के प्रभाव में रहता है; विरोधी शक्तियाँ इस पर किसी प्रकार की ज़रा-सी क्रिया भी नहीं कर सकतीं। यह सामञ्जस्य का जगत् है और इसमें प्रत्येक वस्तु प्रकाश से प्रकाश की ओर तथा प्रगति से प्रगति की ओर गति करती है। यह 'भागवत चेतना' का, व्यक्ति में रहने वाली 'दिव्य आत्मा' का निवास-स्थान है। यह प्रकाश का, सत्य का, ज्ञान का, सौन्दर्य का और सामञ्जस्य का केन्द्र है जिसे 'दिव्य आत्मा' अपनी उपस्थिति के द्वारा हममें से हर एक के अन्दर थोड़ा-थोड़ा करके बनाती रहती है। यह 'भागवत चेतना' का एक अभिन्न अंग है और उसी के द्वारा प्रभावित, गठित और परिचालित होता है। यही तुममें से हर एक के अन्दर वह गभीर आन्तर सत्ता है जिसे अपने अन्दर रहने वाले भगवान् के सम्पर्क में आने के लिए तुम्हें ढूँढ़ना होगा। यह 'भागवत चेतना' और तुम्हारी बाह्य चेतना के बीच सम्बन्ध जोड़ती है; आन्तर जीवन को बनाती है, और बाह्य प्रकृति में 'भागवत संकल्प' के अनुसार व्यवस्था और नियम की अभिव्यक्ति करती है। यदि तुम अपने अन्दर रहने वाले

चैत्य पुरुष से अपनी बाह्य चेतना में अवगत होकर उसके साथ एक हो जाओ तो तुम शुद्ध 'शाश्वत चेतना' को पा सकोगे और उसमें रह सकोगे; और साधारण मनुष्य की तरह सदा अज्ञान द्वारा चालित होने के बदले, तुम अपने अन्दर एक शाश्वत ज्योति और ज्ञान की उपस्थिति का अनुभव करोगे, और तुम इसी को आत्म-समर्पण करोगे और इसी को पूर्ण रूप से आत्म-निवेदन करके इसी के द्वारा प्रत्येक कर्म में चालित होते रहोगे।

क्योंकि, चैत्य पुरुष तुम्हारा वह भाग है जो भगवान् को पहले ही अर्पित हो चुका है। इसका जो प्रभाव तुम्हारी चेतना की अत्यन्त बाह्य और स्थूल सीमाओं पर क्रमशः फैल रहा है, वही तुम्हारी सम्पूर्ण प्रकृति का रूपान्तर करेगा। यहाँ किसी प्रकार के अन्धकार को स्थान नहीं है, यह तुम्हारा ज्योतिर्मय भाग है। अधिकतर मनुष्य अपने अन्दर रहने वाले इस भाग से अनभिज्ञ हैं। योग-साधना तुम्हें इस भाग के प्रति सचेतन बनाने के लिए है, ताकि तुम्हारे रूपान्तर की प्रक्रिया, शताब्दियों में पूर्ण होने वाले एक मन्द और लम्बे प्रयास के बदले एक ही जीवन अथवा कुछ ही वर्षों में पूरी होने वाली बन जाये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ७१-७२

विज्ञानमय चेतना

चेतना की एक ऐसी अवस्था है जिसे हम "विज्ञानमय" नाम दे सकते हैं, जिसमें तुम *एक ही साथ* सभी सिद्धान्तों, सभी विश्वासों, सभी विचारों को देखने में समर्थ हो जाते हो जिन्हें मनुष्यों ने अपनी उच्चतम चेतना द्वारा व्यक्त किया है। तुम अत्यन्त विपरीत धारणाओं को, जैसे बौद्धों, वैदान्तिकों, ईसाइयों के सिद्धान्तों को, सभी दार्शनिक सिद्धान्तों को, मनुष्य के मन ने जब कभी सत्य के किसी छोटे-से सिरे को पकड़ने का यत्न किया और जो कुछ व्यक्त किया उस सबको, एक साथ देख सकते हो। और उस अवस्था में, तुम प्रत्येक वस्तु को न केवल उसके स्थान में रखते हो बल्कि प्रत्येक वस्तु तुम्हें अद्‌भुत रूप में सत्य और किसी वस्तु के विषय में कुछ भी समझने में समर्थ होने के लिए बिलकुल अपरिहार्य प्रतीत होती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १८६-८७

अपनी चेतना को बदलना

बस ज्योति के अन्दर अपने-आपको फैला दो

कठिनाइयाँ सर्वदा अहंभाव से आती हैं, अर्थात्, परिस्थितियों, घटनाओं और अपने इर्द-गिर्द के लोगों के प्रति, तुम्हारे जीवन की अवस्थाओं के प्रति जो तुम्हारी थोड़ी-बहुत अहंभावजन्य व्यक्तिगत प्रतिक्रिया होती है उससे उठती हैं। वे एक प्रकार के घोंघे में बन्द होने के एहसास से भी आती हैं जो तुम्हारी चेतना को उच्चतर तथा विशालतर सत्यों के साथ युक्त होने से रोकता है।

मनुष्य बड़े मज़े से **सोच** सकता है कि वह विशाल होना चाहता है, विश्वव्यापी होना चाहता है, कि सब कुछ भगवान् का ही व्यक्त रूप है, हमारे अन्दर कोई अहं-भाव नहीं होना चाहिये—मनुष्य सभी प्रकार की बातें सोच सकता है—पर यह अनिवार्यतः कोई समाधान नहीं है, क्योंकि बहुत बार मनुष्य जानता है कि उसे क्या करना चाहिये, और फिर भी वह, किसी-न-किसी कारणवश, उसे नहीं करता।

परन्तु यदि, जब तुम्हारे सामने कोई दुःख, कष्ट, विद्रोह, दर्द या असहायता की कोई भावना उपस्थित होती है—चाहे वह जो कुछ हो, सभी चीज़ें जो मार्ग में तुम्हारे सामने आती हैं और यथार्थतः तुम्हारी कठिनाइयाँ होती हैं—यदि तुम भौतिक रूप में, अर्थात् अपने शरीर की चेतना में, अपने-आपको विस्तारित करने का, हम कह सकते हैं कि, अपने-आपको खोलने का भाव ला सको—तुम्हें लगता है मानों तुम्हें पूरी तरह तहा दिया गया हो, कपड़े के उस टुकड़े की तरह जिसकी तह-पर-तह लगी है, जो तहा दिया गया है और फिर तहा दिया गया और फिर तहा दिया गया हो —तो, यदि तुम्हें ऐसा अनुभव होता हो कि जो चीज़ तुम्हें पकड़े हुए है और तुम्हारा गला घोंट रही है और तुम्हें पीड़ा पहुँचा रही है अथवा तुम्हारी गतिविधि को पंगु बना रही है, वह एक बहुत घने रूप में, बहुत कड़े रूप में, लपेटे हुए कपड़े के जैसी अथवा एक बहुत अच्छी तरह बँधे हुए, बहुत अच्छी तरह पैक किये हुए पार्सल के जैसी है, और तुम धीरे-धीरे एक-के-बाद एक, सभी तहों को खोलते हो, अपने-आपको ठीक उसी तरह फैला देते हो जैसे कोई कपड़े के एक टुकड़े या काग़ज़ के एक ताव की तह

खोलता और उसे सपाट फैला देता है, उसी तरह मनुष्य चित लेट जाता है और अपने को बहुत चौड़ा, जितना चौड़ा बनाना सम्भव हो उतना चौड़ा बना देता है, जितनी दूर तक सम्भव हो उतनी दूर तक फैला देता है, उस चीज़ के प्रति पूर्ण निष्क्रियता के भाव के साथ अपने को खोल देता है और फैला देता है जिसे मैं "ज्योति की ओर उन्मुख" कहती हूँ : अपनी कठिनाई की ओर पीठ फेर कर, उसके ऊपर दोहरा होकर नहीं; मानों उसे अपने व्यक्ति-रूप के अन्दर बन्द करके नहीं, बल्कि, उसके विपरीत, जितना सम्भव हो उतना, जितने पूर्ण रूप में किया जा सके उतने पूर्ण रूप में, अपने-आपको खोल कर, कठिनाई को 'ज्योति' के सम्मुख रख कर—उस 'ज्योति' के सम्मुख जो ऊपर से आती है—यदि तुम ऐसा सभी क्षेत्रों में करो, और यदि मानसिक रूप में उसे करने में तुम सफल न भी होओ—क्योंकि यह कभी-कभी कठिन होता है—यदि तुम इसे भौतिक रूप में लगभग अत्यन्त स्थूल रूप में करने की कल्पना कर सको तो हाँ, जब तुम अपने-आपको खोलना और अपने-आपको फैलाना पूरा कर लोगे, तुम देखोगे कि कठिनाई का तीन-चौथाई भाग ग़ायब हो गया है। और फिर 'ज्योति' के प्रति ग्रहणशीलता का थोड़ा-सा कार्य हो जाये तो अन्तिम चौथाई भी विलीन हो जायेगा।

अपने विचार के द्वारा कठिनाई के साथ संघर्ष करने की अपेक्षा ऐसा करना बहुत अधिक आसान है, क्योंकि तुम यदि अपने साथ तर्क-वितर्क करना आरम्भ करो तो तुम्हें पक्ष और विपक्ष में ऐसी युक्तियाँ मिलेंगी जो इतनी विश्वासदायिनी होंगी कि किसी उच्चतर ज्योति के बिना उनसे बाहर निकलना बिलकुल असम्भव होगा। उस समय, तुम कठिनाई के साथ संघर्ष मत करो, अपने-आपको विश्वास दिलाने की चेष्टा मत करो, आह! बस, ज्योति के अन्दर अपने-आपको फैला दो, मानों तुम धूप में बालू के ऊपर चित लेट गये हो। और तुम 'ज्योति' को अपना काम करने दो। बस, इतना ही पर्याप्त है। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३४४-४५

हम भौतिक चेतना को बदलना चाहते हैं

अधिकतर अभीप्सुओं के लिए ध्यान, एकाग्रता, भौतिक जीवन से निवृत्ति, भौतिक क्रियाओं के त्याग का मार्ग निश्चय ही कर्म-मार्ग से अधिक

आसान है। परन्तु वे भौतिक चेतना को, उसे कभी भी परिवर्तित किये बिना, वैसी ही छोड़ देते हैं जैसी कि वह है, और जब तक कि कोई साधु या संन्यासी ही न बन जाये, जो समस्त सक्रिय जीवन से बाहर चला जाता है, और सतत एकाग्रता या ध्यान में बना रहता है, मनुष्य बिलकुल कुछ नहीं प्राप्त करता। कहने का तात्पर्य, सत्ता का कोई सम्पूर्ण भाग कभी रूपान्तरित नहीं होता। और उनके लिए समाधान यह बिलकुल नहीं है कि वह रूपान्तरित हो जाये, उनका समाधान तो बस यह है कि उसे त्याग दिया जाये, जितनी जल्दी सम्भव हो उतनी जल्दी अपने शरीर से बाहर निकला जाये। बस, इसी रूप में प्राचीन काल में योग की कल्पना की गयी थी, क्योंकि, स्पष्ट ही, ऐसा करना बहुत अधिक आसान है। परन्तु यह वह चीज़ नहीं है जिसे हम चाहते हैं।

हम जो कुछ चाहते हैं वह है भौतिक चेतना का रूपान्तर, न कि उसका परित्याग।

और इसलिए, ऐसी हालत में, श्रीअरविन्द ने जिस चीज़ को अत्यन्त सीधे और अत्यन्त पूर्ण साधन के रूप में ग्राह्य बताया है वह है भगवान् के प्रति समर्पण—एक ऐसा समर्पण जो अधिकाधिक पूर्ण बनाया गया हो, जिसने क्रमशः भौतिक चेतना और भौतिक क्रियाओं को समाविष्ट कर लिया हो। और यदि कोई ऐसा करने में सफल हो जाता है तो भौतिक एक बाधा बनने के बदले सहायक बन जाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३६०

उच्चतर चेतना का हस्तक्षेप

योग का वास्तविक ध्येय है—कर्म-चक्र से बाहर निकल कर भागवत गति में प्रवेश करना। योग के द्वारा तुम प्रकृति की उस यान्त्रिक गति से छुटकारा पा सकते हो जिसमें तुम एक मूढ़ ग़ुलाम, एक असहाय और बेबस उपकरण-भर हो। तुम एक दूसरी भूमिका में ऊपर उठ जाते हो जहाँ किसी उच्चतर भवितव्यता को कार्य में परिणत करने के लिए तुम एक सचेतन सहयोगी और सक्रिय प्रतिनिधि बन जाते हो। चेतना की यह गति द्विविध होती है। पहले आरोहण होता है, तुम अपने-आपको जड़-प्राकृतिक चेतना की सतह से ऊपर उठा कर श्रेष्ठतर क्षेत्रों में ले जाते हो। परन्तु

निचले क्षेत्रों से उपरले क्षेत्रों में आरोहण ऊपर की चेतना को निचले क्षेत्रों में उतरने के लिए बुलाना है। जब तुम पृथ्वी से ऊपर उठते हो तो ऊपर की किसी चीज़ को भी इस पृथ्वी पर उतार लाते हो—किसी ऐसी ज्योति या शक्ति को जो इस पृथ्वी की पुरानी प्रकृति का रूपान्तर कर देती है या उसे रूपान्तरित होने के लिए प्रवृत्त करती है। और तब जो चीज़ें नीचे अभी तक एक-दूसरे से अलग, बेमेल और विषम थीं, तुम्हारे अन्दर जो कुछ उच्च है वह और जो कुछ निम्न है वह, तुम्हारी सत्ता और चेतना के आन्तर और बाह्य स्तर, एक दूसरे से मिलते और धीरे-धीरे आपस में जुड़ जाते हैं तथा क्रमशः एक सत्य और एक सामञ्जस्य में परिणत हो जाते हैं।

लोग जिन्हें चमत्कार कहते हैं, वे इसी तरह होते हैं। यह जगत् चेतना के अनेक स्तरों से बना है और प्रत्येक स्तर के अपने-अपने नियम हैं। एक स्तर के नियम दूसरे स्तर पर लागू नहीं होते। चमत्कार का अर्थ है किसी प्रकार का आकस्मिक अवतरण, किसी अन्य चेतना और उसकी शक्तियों का—बहुधा प्राण की शक्तियों का—इस स्थूल भौतिक लोक में विस्फोट। यहाँ की स्थूल भौतिक मशीनरी पर किसी उच्चतर स्तर की मशीनरी हठात् उतर आती है। यह ऐसे होता है मानों हमारी साधारण चेतना के बादलों को चीर कर बिजली उतर आयी हो और उसमें अन्य शक्तियों, अन्य गतियों तथा अन्य परिणामों को उँड़ेल दिया हो। इसके फल को हम चमत्कार कहते हैं, क्योंकि हमारे साधारण स्तर में जो स्वाभाविक नियम काम कर रहे हैं उनमें अचानक परिवर्तन दिखायी देता है, ऐसा जान पड़ता है कि इन नियमों में एकाएक कोई हस्तक्षेप हो गया है, लेकिन हम उसके कारण और क्रम को जान या देख नहीं पाते, क्योंकि इस चमत्कार का मूल कारण तो किसी और ही स्तर में होता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ३६-३७

चेतना का विकास

... पूर्ण चेतना को प्राप्त करने का उपाय है अपनी वास्तविक चेतना को उसके वर्तमान घेरे और सीमा से बाहर निकाल कर विशाल बनाना, उसे शिक्षित करना, उसे 'भागवत ज्योति' की ओर खोलना और उसमें 'भागवत ज्योति' को स्वतन्त्र और स्वच्छन्द रूप से काम करने देना। परन्तु

'ज्योति' अपना पूरा और अबाधित कार्य तभी कर सकती है जब तुम समस्त लालसाओं और भय से मुक्त होओ, जब तुम्हारे अन्दर कोई भी मानसिक पक्षपात न हो, कोई प्राणिक पसन्द न हो, कोई भौतिक आशंका या आकर्षण न हो जो तुम्हें तमसाच्छन्न करे या बन्धन में डाले।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ११४-१५

सच्ची चेतना को खोजना

आवश्यकता इस बात की है कि हमारे अन्दर एक ऐसी अभीप्सा हो जो हमारी सत्ता के अन्दर एक स्थायी अग्नि की तरह जलती रहे और जब-जब हमारे अन्दर कोई कामना, कोई अभिरुचि, कोई आकर्षण उठे तब-तब उसे इस अग्नि में झोंक दिया जाये। यदि तुम इसे लगातार करते रहो तो देखोगे कि तुम्हारी सामान्य चेतना के अन्दर सत्य-चेतना की एक क्षीण किरण उदित होने लगी है। प्रारम्भ में वह धीमी होगी, कामनाओं, अभिरुचियों, आकर्षणों और पसन्दगियों के समस्त कोलाहल के पीछे बहुत दूर होगी। परन्तु तुम्हें इन सबके पीछे जाना होगा और उस सत्य-चेतना को प्राप्त करना होगा जो पूर्णतः स्थिर, प्रशान्त और लगभग निश्चल-नीरव है।

जो लोग सत्य-चेतना के सम्पर्क में होते हैं वे एक साथ ही सभी सम्भावनाओं को देख लेते हैं और यदि आवश्यक हो तो जान-बूझकर अत्यन्त प्रतिकूल सम्भावना तक को चुन सकते हैं। परन्तु इस बिन्दु तक पहुँचने के लिए तुम्हें बहुत लम्बा रास्ता तय करना होगा।

अपनी रुचियों को निष्प्रभावी कर देना चाहिये या उन्हें भूल जाना चाहिये?

वे तुम्हारे अन्दर होनी ही नहीं चाहियें!

जब मन शान्त हो जाता है, जब वह निर्णय देना, अपने तथाकथित ज्ञान के द्वारा स्वयं को आगे धकेलना बन्द कर देता है तो मनुष्य जीवन की समस्या को हल करना आरम्भ करता है। मनुष्य को निर्णय देने से दूर रहना चाहिये, क्योंकि मन केवल कर्म का एक यन्त्र है, सच्चे ज्ञान का यन्त्र नहीं—सच्चा ज्ञान कहीं और से आता है।

यदि मनुष्य निर्णय देने से दूर रहे तो वह 'सत्य' के अधिकाधिक यथार्थ

ज्ञान को प्राप्त करेगा और संसार के नव-दशांश दुःख-सन्ताप दूर हो जायेंगे। यदि मन यह स्वीकार कर सके कि वह नहीं जानता तो संसार की महान् विशृंखला का काफ़ी हद तक शमन हो जायेगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. २-३

मुर्गी और अण्डा

हम चाहते हैं सर्वांगीण रूपान्तर, शरीर और उसकी सभी क्रियाओं का रूपान्तर।

पहले जब रूपान्तर की बात कही जाती थी तब उसका एकमात्र अभिप्राय होता था आन्तरिक चेतना का रूपान्तर। स्वयं अपने अन्दर इस गभीरतर चेतना को खोजने का प्रयास किया जाता था और शरीर तथा उसकी क्रियाओं को बोझ और अनावश्यक वस्तु मान कर उनका परित्याग कर दिया जाता था ताकि एकमात्र आन्तरिक गतिविधियों में ही तल्लीन रहा जा सके। श्रीअरविन्द ने घोषणा की कि यह पर्याप्त नहीं है; 'सत्य' की माँग है कि भौतिक जगत् को भी इस रूपान्तर में भाग लेना चाहिये और उसे गभीरतर 'सत्य' की अभिव्यक्ति होना चाहिये। किन्तु जब लोगों ने यह सुना तो बहुतों ने यह समझा कि यह जानने का ज़रा भी कष्ट उठाये बिना ही कि अन्तर में क्या हो रहा है, शरीर और उसकी क्रियाओं को रूपान्तरित करना सम्भव है। स्वभावतया ही यह बात एकदम सच नहीं है। सब चीज़ों में सबसे अधिक कठिन है भौतिक रूपान्तर; और इस कार्य को हाथ में लेने से पहले तुम्हें अपनी आन्तरिक चेतना को 'सत्य' के अन्दर दृढ़ और ठोस रूप से प्रतिष्ठित करना होगा ताकि यह रूपान्तर 'सत्य' की अन्तिम अभिव्यक्ति हो सके—कम-से-कम इस समय के लिए "अन्तिम"।

इस रूपान्तर का आरम्भ-बिन्दु है ग्रहणशीलता, हम इसकी बात पहले कर चुके हैं। रूपान्तर संसिद्ध करने के लिए यह अपरिहार्य शर्त है। तब आता है चेतना का परिवर्तन। चेतना के परिवर्तन और उसकी तैयारी की तुलना प्रायः अण्डे के अन्दर मुर्गी के बच्चे से की जाती है। अन्तिम पल तक अण्डा देखने में वह-का-वही बना रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं दीखता, और जब बच्चा पूरा रूप ले लेता है, एकदम जीवन्त हो उठता है, तब स्वयं वह बच्चा अपनी नन्हीं चोंच से अण्डे के छिलके में छेद कर

देता है और बाहर निकल आता है। चेतना के परिवर्तन के क्षण में भी ठीक ऐसी ही कुछ चीज़ होती है। लम्बे अरसे तक तुम्हें ऐसा लगता है कि कुछ भी नहीं हो रहा, तुम्हारी चेतना पूर्ववत् ही है, और यहाँ तक कि यदि तुम्हारे अन्दर तीव्र अभीप्सा है, तो तुम्हें एक विरोध का भी अनुभव होता है, मानों तुम किसी दीवार से टकरा रहे हो जो गिरना नहीं चाहती। किन्तु जब तुम अन्दर से तैयार हो जाते हो, एक आख़िरी प्रयास... सत्ता की बाहरी परत पर चोंच की एक चोट—और सारी चीज़ खुल पड़ती है और तुम दूसरी चेतना में जा पहुँचते हो।

मैंने कहा था कि यह मूलगत सन्तुलन में ही क्रान्ति है, अर्थात्, चेतना पूर्णतः उलट जाती है। इसकी तुलना 'प्रिज़्म' में से गुज़रने वाली प्रकाश-किरण की अवस्था से की जा सकती है। या यह मानों ऐसा होता है जैसे तुमने किसी गेंद के अन्दर के हिस्से को उलट कर बाहर कर दिया हो, जो कि केवल चतुर्थ आयाम में ही किया जा सकता है। व्यक्ति तीन आयामोंवाली सामान्य चेतना में से निकल आता है और चौथे आयाम की उच्चतर चेतना में और फिर असंख्य आयामों में प्रवेश कर जाता है। यही अपरिहार्य आरम्भ-बिन्दु है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. २२-२३

चेतना तथा तकनीक

खेलों की बात लें... उदाहरणार्थ, तुम यदि किसी ऐसे प्रतिद्वन्द्वी के साथ खेलते हो जिसने धीरे-धीरे गम्भीरतापूर्वक, धैर्य और लगन के साथ अभ्यास किया है, और जिसमें अचानक प्रबल अभीप्सा जाग उठी है तो तुम्हारी अभीप्सा के बावजूद वह तुम्हें हरा देगा, जब तक कि तुम्हारी अभीप्सा तुम्हारे प्रतिद्वन्द्वी की अभीप्सा से तीव्रतर न हो। यदि तुम्हारे सामनेवाला खिलाड़ी कोई ऐसा व्यक्ति है जो उस खेल की तकनीक भर जानता है, पर उसमें कोई सचेतन अभीप्सा नहीं है, और इस ओर तुम पूरी सचेतन स्थिति में होओ, तो स्पष्ट ही तुम उसे पराजित कर दोगे, क्योंकि चेतना का गुण तकनीक के गुण से श्रेष्ठ होता है। लेकिन एक की जगह दूसरी नहीं ले सकती। जो चीज़ श्रेष्ठ है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है, रहे, किन्तु तुम्हारे स्नायु भी ऐसे होने चाहियें जो शीघ्रता से उत्तर दे सकें,

तुम्हारी गतियाँ सहज होनी चाहियें; सुचारु रूप से खेल सकने के लिए उस खेल के सारे रहस्यों को जानना भी आवश्यक है। तुम्हारे पास दोनों चीज़ें होनी चाहियें। अधिक ऊँची चीज़ है चेतना जो तुम्हें ठीक समय पर ठीक क्रिया करने की योग्यता देती है, किन्तु यही एकमात्र चीज़ नहीं है। जब तुम पूर्णता प्राप्त करना चाहते हो तो तुम्हें एक की उपेक्षा यह तर्क देकर नहीं करनी चाहिये कि दूसरी तो तुम्हारे पास है ही।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ५०-५१

दुःख से ऊपर उठना

व्यक्ति पर कष्ट आ सकते हैं और यह हो सकता है कि वह उन्हें अनुभव न करे, वह इस प्रकार रहे मानों उनका कोई अस्तित्व ही न हो। तात्पर्य यह कि कोई दुर्भाग्य, कोई "कष्ट" केवल बाह्य चेतना को, शारीरिक, प्राणिक और मानसिक चेतना को ही स्पर्श करता है, किन्तु चैत्य सत्ता—वास्तव में चैत्य सत्ता सभी कष्टों से परे रहती है। एक बहुत साधारण उदाहरण लें: किसी बीमारी का। शरीर में गड़बड़ होने से तुम्हें कष्ट होता है, कभी-कभी बहुत अधिक कष्ट होता है, किन्तु ऐसे लोग होते हैं जो चेतना की ऐसी स्थिति में रहते हैं कि उनके लिए शारीरिक कष्टों का अस्तित्व ही नहीं होता, वे उनके लिए वास्तविक नहीं होते। यही बात बिछोह की है। यदि तुम किसी से प्रेम करते हो और उससे तुम्हारा बिछोह हो जाता है तो तुम्हें कष्ट होता है—यह एक सर्वसामान्य कष्ट है, इससे व्यक्तियों का प्रेम-बन्धन टूट जाता है—किन्तु चेतना की एक विशेष स्थिति होती है जहाँ दो प्राणियों के बीच का सच्चा बन्धन नहीं टूट सकता, क्योंकि वह उस स्तर की वस्तु नहीं होता जहाँ चीज़ें टूटा करती हैं। इसलिए, जो कुछ भी घटित हो, मनुष्य उससे ऊपर रहता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ५५

हमारे लिए जो उत्तम हो

जो कुछ तुम्हें अच्छा, अनुकूल प्रतीत होता है वह सदा वही नहीं होता जो आध्यात्मिक दृष्टि से तुम्हारे लिए उत्तम हो। यही बात प्रारम्भ से तुम्हें सीखनी चाहिये कि तुम्हें कौन-सी चीज़ लक्ष्य की ओर सबसे तेज़ गति से

ले जायेगी, इस बात का भगवान् का ज्ञान तुम्हारे ज्ञान से एकदम भिन्न होता है और तुम उसे समझ नहीं सकते। यही कारण है कि प्रारम्भ से तुम्हें अपने-आपसे यह कहना चाहिये कि "यह बिलकुल ठीक है। मैं सब कुछ स्वीकार करूँगा और बाद में ही उसे समझूँगा।"

अतएव बहुधा तुम ऐसे लोगों से मिलते हो जो योग आरम्भ करने से पहले अपेक्षाकृत सुखी जीवन बिताते थे और जैसे ही वे योग करने आते हैं, वे सभी परिस्थितियाँ, जिनसे वे विशेष रूप से आसक्त थे, कम या अधिक कठोरतापूर्वक उनसे मुँह मोड़ लेती हैं। तब वे परेशान हो उठते हैं; सम्भवतः वे इतने सरल-निश्छल नहीं होते कि वे उसे स्वीकार कर लें, वे अन्य विचारों या अन्य शब्दों का आश्रय लेते हैं, पर उसका तात्पर्य यही होता है : "यह कैसी बात है? मैं भला हूँ और मेरे साथ भद्रतापूर्वक व्यवहार नहीं किया जाता!"

यहाँ न्यायसम्बन्धी समूची मानवीय भावना विद्यमान है। "तुम अच्छा बनने की चेष्टा करते हो और कितनी घोर विपत्ति टूट पड़ती है तुम्हारे ऊपर! जिन सब चीज़ों से तुम प्यार करते थे वे सब तुमसे छीन ली जाती हैं, जितने भी सुख-आनन्द तुम्हें प्राप्त थे उनसे तुम वञ्चित कर दिये जाते हो, जिन लोगों से तुम प्रेम करते थे सब छोड़-छोड़ कर चले गये; निस्सन्देह, अच्छा बनने और प्रयास करने का कष्ट उठाना किसी काम का नहीं।" और यदि तुम इसी तरह का तर्क करते रहो तो एकाएक तुम कीड़े को पकड़ लेते हो—अच्छा, तुम स्वार्थ के लिए योग करना चाहते थे, तुम स्वार्थवश अच्छा होना चाहते थे, तुमने सोचा था कि तुम्हारी स्थिति पहले से अच्छी हो जायेगी और तुम्हारी चतुराई के लिए तुम्हें लड्डू मिलेंगे! और वैसा नहीं हो रहा है!... हाँ, कम-से-कम यह अस्वीकृति वह उत्तम शिक्षा है जो तुम्हें कभी दी जा सकती थी। कारण, जब तक तुम्हारी अभीप्सा में कोई कामना छिपी हुई है और जब तक तुम्हारे हृदय में भगवान् के साथ मोल-तोल करने का भाव विद्यमान है, ऐसी चीज़ें आयेंगी और तब तक तुम्हें आघात पहुँचाती रहेंगी जब तक तुम अपने अन्दर स्थित सत्य-चेतना के प्रति जाग्रत् नहीं हो जाते जो कोई शर्त नहीं रखती, कोई मोल-तोल नहीं करती। बस।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ११८-१९

क्रिया करते समय भी चेतना को ऊँचा बनाये रखो

तुम अत्यधिक श्रमशील काम में लगे हो सकते हो, उदाहरणार्थ, 'बास्केट बॉल' खेलने में, जिसमें बहुत अधिक दौड़-धूप करने की आवश्यकता होती है, और फिर भी तुम भगवान् के ऊपर अपने आन्तरिक ध्यान और एकाग्रता का भाव नहीं खोओगे। और जब तुम इस स्थिति में पहुँच जाओगे तो तुम देखोगे कि जो कुछ भी तुम करते हो उसके गुण ही बदल जाते हैं, तुम केवल पहले से अच्छा ही नहीं करते बल्कि उसे एकदम अप्रत्याशित शक्ति के साथ करते हो, और उसके साथ ही तुम अपनी चेतना को इतना ऊँचा और इतना पवित्र बनाये रखते हो कि अब उसे कोई चीज़ छू भी न सके। और यह याद रखो कि यह अवस्था इतनी दूर तक जा सकती है कि यदि कोई दुर्घटना भी तुम्हारे साथ हो जाये तो उससे तुम्हें कोई क्षति नहीं पहुँचेगी। निस्सन्देह, यह परमोच्च अवस्था है, पर यह एक ऐसी परमोच्च अवस्था है जिसकी हम अभीप्सा कर सकते हैं।

तुम सर्वसामान्य लोगों की तरह यह विश्वास करने की भूल मत करो कि तुम्हें एक ऐसे एकान्त नीरव कोने में बैठ जाना चाहिये जहाँ कोई नहीं आता-जाता, जहाँ तुम्हें ध्यानासन में बैठना चाहिये, बिलकुल निश्चल, ताकि तुम ध्यान कर सको—यह बात सच नहीं है। आवश्यक यह है कि तुम सभी परिस्थितियों में ध्यान करने में समर्थ होओ, और मैं कहती हूँ कि "ध्यान करने" में समर्थ होओ, अपने मस्तक को ख़ाली करने में ही नहीं, बल्कि भगवान् के ध्यान में अपने को एकाग्र कर लो; और, तुम यदि अपने अन्दर इस ध्यान की स्थिति को बनाये रखो तो जो कुछ तुम करोगे उसके गुण ही बदल जायेंगे—उसका बाहरी रूप नहीं बदलेगा, क्योंकि ऊपर से देखने में तो वह वही चीज़ रहेगी, पर उसका विशिष्ट गुण बदल जायेगा। जीवन का स्वरूप बदल जायेगा और तुम, तुम अनुभव करोगे कि जो कुछ तुम थे उससे कुछ भिन्न व्यक्ति हो गये हो, तुम अपने साथ एक प्रकार की शान्ति, निश्चयता, आन्तरिक स्थिरता, अपरिवर्तनीय शक्ति, एक ऐसी चीज़ अनुभव करोगे जो कभी हार नहीं मानती।

ऐसी स्थिति में तुम्हें हानि पहुँचाना कठिन होगा—शक्तियाँ हमेशा चेष्टा करती हैं, यह संसार ऐसी विरोधी शक्तियों से भरा हुआ है जो प्रत्येक चीज़ को उलट-पलट देने का प्रयास करती हैं... परन्तु उन्हें बहुत थोड़ी मात्रा

में ही सफलता मिलती है, केवल उतनी ही मात्रा में जो नये रूप में उन्नति करने के लिए तुम्हारे लिए आवश्यक होता है।

जीवन में जब-जब तुम्हें कोई आघात मिले तब-तब तुम तुरत अपने-आपसे कहो: "आह! मुझे प्रगति करनी है"; तब आघात आशीर्वाद बन जायेगा। तुम अपने सिर को कन्धों के बीच झुकाने के बदले हर्ष के साथ उसे ऊपर उठा लो और कहो: "वह कौन-सी चीज़ है जिसे मुझे अभी सीखना है? मैं यह जानना चाहता हूँ। कौन-सी चीज़ है जिसे मुझे परिवर्तित करना है? मैं उसे जानना चाहता हूँ।" बस, तुम्हें यही करना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १४३-४४

चेतना को विस्तृत करना

अगर हो सके तो हमें अपनी चेतना को विस्तृत बनाना चाहिये।

मेरी जान-पहचान का एक आदमी था जो अपनी चेतना को विस्तृत करना चाहता था। उसने एक तरक़ीब खोज निकाली थी। वह रात को, खुले में लेट जाता था और तारों को देखा करता था, उनके साथ तादात्म्य करने की कोशिश करता था और विशाल जगत् की गहराई में चला जाता था और इस तरह अनुपात का भाव पूरी तरह खो देता था। वह धरती और उसकी सभी छोटी-मोटी चीज़ों की व्यवस्था भूल कर आकाश के जैसा विशाल बन जाता था—तुम इसे विश्व के जैसा विशाल नहीं कह सकते क्योंकि हम विश्व के एक छोटे-से टुकड़े को ही देखते हैं, लेकिन वह तारों-भरे आकाश जैसा विशाल बन जाता था। और तब, जानते हो, सामयिक रूप में सभी छोटी-मोटी अपवित्रताएँ झड़ जाती हैं और तुम चीज़ों को एक बड़े पैमाने पर समझ सकते हो। यह एक बड़ी अच्छी कसरत है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १६८

एकाग्रता द्वारा तादात्म्य

जब मैं पैरिस में थी तब मैं बहुत-से स्थानों पर जाया करती थी जहाँ सब प्रकार की सभाएँ होती थीं, लोग नाना प्रकार के शोध करते थे, आध्यात्मिक शोध, (तथाकथित आध्यात्मिक) गुह्य शोध आदि। एक बार मुझे एक महिला से मिलने के लिए निमन्त्रण मिला (शायद वह स्वीडन की

थी), जिसने एक ज्ञान-प्रणाली खोज ली थी, यथार्थ रूप में सीखने की एक प्रक्रिया। और उसने हमारे आगे उसकी व्याख्या की। हम तीन-चार लोग थे (उसकी फ्रेंच बहुत अच्छी न थी, पर उसे अपने ऊपर पूरा विश्वास था!); उसने कहा: "चीज़ ऐसी है, तुम एक वस्तु को ले लो या एक बोर्ड पर कुछ निशान बना लो या एक आलेखन ले लो—इसका कोई महत्त्व नहीं है—तुम्हारे लिए जो सुविधाजनक हो, लो। मैं तुम्हारे लिए एक आलेखन किये देती हूँ... (उसके पास एक बोर्ड था) मैं एक आलेखन बनाये देती हूँ।" उसने अर्ध ज्यामिति का-सा आलेखन किया। "अब तुम इस आलेखन के सामने बैठो और अपना सारा ध्यान इस पर एकाग्र करो—इस आलेखन पर जो यहाँ है। तुम अपने-आपको एकाग्र करते जाओ, एकाग्र करते जाओ, इसके सिवा किसी और चीज़ को अपनी चेतना में न आने दो। तुम्हारी आँखें आलेखन पर गड़ी हुई हैं और ज़रा भी नहीं हिलतीं। तुम मानों इस आलेखन से सम्मोहित हो गये हो। तुम देखो (वह देखती हुई बैठ गयी), तुम देखते हो, देखते जाते हो...। मुझे पता नहीं, यह कम या अधिक समय लेता है, फिर भी जिन्हें अभ्यास है वे काफ़ी तेज़ी से कर सकते हैं। तुम देखते हो, देखते हो, देखते हो, तुम वही आलेखन **बन** जाते हो जिसे तुम देख रहे हो। सारी दुनिया में इस आलेखन को छोड़ कर कुछ और नहीं रह जाता। और तब, अचानक, तुम दूसरी ओर जा पहुँचते हो; और जब तुम दूसरी ओर जा पहुँचते हो तो तुम एक नयी चेतना में प्रवेश करते हो, और तुम जान जाते हो।"

हम ख़ूब हँसे, क्योंकि बात मज़ेदार थी। लेकिन है यह बिलकुल ठीक। अभ्यास करने के लिए यह उत्तम तरीक़ा है। स्वभावतः, एक आलेखन या कोई वस्तु लेने की जगह, तुम, उदाहरण के लिए, कोई विचार या कुछ शब्द ले सकते हो। कोई समस्या तुम्हें उलझाये हुए है। तुम्हें उस समस्या का हल नहीं मालूम। तो, तुम अपनी समस्या को अपने मन में वस्तुनिष्ठ रूप दो, उसे यथासम्भव अधिक-से-अधिक ठीक-ठीक, यथार्थ, संक्षिप्त रूप में रखो, और फिर एकाग्र होओ, एक प्रयास करो; तुम केवल शब्दों पर ही एकाग्र होओ और हो सके तो उनके भाव पर, अर्थात्, अपनी समस्या पर एकाग्र होओ—एकाग्र होते चलो, एकाग्र होते चलो, एकाग्र होते चलो —यहाँ तक कि उसके सिवा और कुछ भी न बच रहे। और यह सच है,

कि एकाएक, तुम्हें ऐसा लगता है कि कोई चीज़ खुल रही है और तुम दूसरी ओर होते हो। लेकिन किस चीज़ के दूसरी ओर?... इसका मतलब है कि तुमने अपनी चेतना का एक दरवाज़ा खोल दिया है और तुम्हें तुरन्त अपनी समस्या का हल मिल जाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २४२-४३

दूसरों को समझने की कोशिश करना

तादात्म्य "कैसे" किया जाये यह सीखने का यह सबसे अच्छा तरीक़ा है।

उदाहरण के लिए, तुम किसी के साथ हो। यह आदमी तुमसे कुछ कहता है। तुम उससे उलटी बात कहते हो (यह प्रायः विरोध की भावना से होता है), और तुम बहस करना शुरू कर देते हो। स्वभावतः, तुम कभी किसी बिन्दु पर न पहुँच पाओगे, सिवा इसके कि यदि तुम बदमिज़ाज हो तो तुम झगड़ पड़ो। लेकिन यह करने की जगह, अपने ही विचारों और अपने ही शब्दों में बन्द रहने की जगह, अगर तुम अपने-आपसे कहो: "ज़रा ठहरो, मैं कोशिश करके देखता हूँ कि उसने मुझसे यह क्यों कहा। हाँ, उसने मुझसे यह क्यों कहा?" और तुम एकाग्र होते हो: "क्यों, क्यों, क्यों?" तुम वहीं खड़े रहते हो, बस उसी तरह, कोशिश करते हुए। दूसरा व्यक्ति बोलना जारी रखता है, है न?—और वह बहुत प्रसन्न है कि अब तुम उसका विरोध नहीं कर रहे! वह बहुत अधिक बोलता है और उसे विश्वास है कि उसने तुमसे मनवा लिया है। तब तुम धीरे-धीरे उस बात पर एकाग्र होते हो जो वह कह रहा है, और इस भावना के साथ एकाग्र होते हो कि धीरे-धीरे उसके शब्दों के द्वारा तुम उसके मन में प्रवेश कर रहे हो। जब तुम उसके सिर में प्रवेश करते हो तो अचानक तुम उसके सोचने की पद्धति में प्रवेश करते हो और उसके बाद, ज़रा कल्पना करो, तुम समझ जाते हो कि वह तुम्हारे साथ इस तरह क्यों बोल रहा है! और फिर, यदि तुम्हारी समझ काफ़ी तेज़ है और तुमने अभी जो चीज़ समझी है उसे तुम, जो पहले से जानते थे, उसके साथ रखो तो तुम्हारे सामने दो तरीक़े एक साथ होते हैं। अतः तुम ऐसे सत्य को पा सकते हो जो दोनों का समन्वय करता है। और तब तुमने सचमुच प्रगति की है। अपने विचारों को विस्तृत करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यही है।

अगर तुम कोई विवाद शुरू कर रहे हो तो तुरन्त चुप हो जाओ। तुम्हें बिलकुल चुप होना चाहिये, कुछ भी न बोलो, और तब चीज़ को उस तरह देखने की कोशिश करो जैसे दूसरा आदमी देखता है—इससे तुम देखने का अपना तरीक़ा न भूलोगे—बिलकुल नहीं! लेकिन तुम दोनों को एक साथ रख सकोगे और तुम वास्तव में प्रगति कर लोगे, वास्तविक प्रगति।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २४३-४४

मिल कर काम करना

हर चीज़ के लिए यही बात है। जो कुछ तुम औरों के साथ मिल कर करते हो उसमें यदि तुम औरों के साथ सहमत नहीं हो तो इसे भगवान् की 'कृपा' मानो, प्रगति करने के लिए दिया गया एक अद्‌भुत अवसर मानो। और यह सरल है : इस ओर होने की जगह, तुम दूसरी ओर होओ; अपने-आपको देखने की जगह, तुम दूसरे व्यक्ति में प्रवेश करके देखो। तुम्हारे अन्दर थोड़ी-सी कल्पना होनी चाहिये, अपने विचारों और अपनी गतिविधियों पर ज़रा और नियन्त्रण होना चाहिये। परन्तु यह बहुत कठिन नहीं है। जब तुम इसका ज़रा परीक्षण कर लोगे तो थोड़ी देर बाद यह बहुत सरल हो जायेगा।

तुम्हें केवल देख कर ही अपने-आपसे यह कहते हुए : "यह ऐसा क्यों है और वैसा क्यों है? वह ऐसा क्यों करता है? ऐसा क्यों कहता है?" कोई मानसिक प्रयास नहीं करना चाहिये। इससे तुम कभी कुछ न पा सकोगे। तुम समझ न पाओगे, तुम सब प्रकार की सफ़ाइयों की कल्पनाएँ करोगे जो बेकार होंगी। तुम उनसे कुछ न सीखोगे, बस अपने-आपसे कहोगे : "वह व्यक्ति मूर्ख या दुष्ट है"—ऐसी बातें जिनका कोई लाभ नहीं। दूसरी ओर, अगर तुम यह छोटी-सी चेष्टा करो, उसे अपने से भिन्न, एक परायी वस्तु के रूप में देखने की जगह, तुम उसके अन्दर प्रवेश करने का यत्न करो, उसके अन्दर प्रवेश करो, उस छोटे-से सिर में जो तुम्हारे सामने है, और तब, अचानक, तुम अपने-आपको दूसरी ओर पाते हो, तुम अपने-आप पर दृष्टि डालते हो और बड़ी अच्छी तरह समझ जाते हो कि वह क्या कह रहा है—हर बात स्पष्ट है, उसका क्यों, कैसे, कारण और सारी चीज़ के पीछे की भावना...। यह एक ऐसा परीक्षण है जिसे करने के लिए दिन

में सौ-सौ बार अवसर मिलते हैं।

शुरू-शुरू में तुम अच्छी तरह सफल न होओगे, लेकिन अगर तुम लगे रहो तो अन्त में बहुत अच्छी तरह सफल होओगे। यह जीने का मज़ा और बढ़ा देता है। इसके अतिरिक्त, यह ऐसा काम है जो सचमुच तुमसे प्रगति करवाता है। यह तुम्हें अपने उस छोटे-से कवच में से निकालता है जिसमें तुम अच्छी तरह बन्द हो, जिसमें तुम हर चीज़ के साथ टकराते हो। तुमने पतिंगों को रोशनी में टकराते देखा है, देखा है न?... हर एक की चेतना ऐसी ही है। वह इधर-उधर टकराती फिरती है, क्योंकि उसके लिए ये विजातीय चीज़ें हैं। लेकिन अगर टकराने की जगह, तुम उनमें प्रवेश करो तो वे तुम्हारा अपना अंश बनने लगती हैं। तुम अपने-आपको विस्तृत करते हो, आज़ादी से साँस लेते हो, तुम्हारे पास हिलने-डुलने के लिए काफ़ी जगह होती है, तुम किसी के साथ नहीं टकराते, तुम उसमें प्रवेश करते हो, उसमें व्याप्त हो जाते हो और समझते हो। और तुम एक ही समय में अनेक स्थानों में रहते हो। यह बहुत मज़ेदार है। यह क्रिया अपने-आप ही होती जाती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २४४-४५

चेतना का फैलाव[१]

सबसे आसान तरक़ीब है, अपने-आपको किसी विशाल चीज़ के साथ एकात्म कर लो। उदाहरण के लिए, जब तुम्हें लगे कि तुम पूरी तरह किसी संकरे-सीमित विचार, इच्छा और चेतना में बन्द हो, जब तुम्हें ऐसा लगे कि तुम किसी सीप में बन्द हो, तो अगर तुम किसी बहुत विशाल चीज़ के बारे में सोचने लगो, उदाहरण के लिए, समुद्र के जल की विशालता, और अगर सचमुच तुम समुद्र के बारे में सोच सको कि वह कैसे दूर, दूर, दूर, दूर तक सभी दिशाओं में फैला है, इस तरह *(माताजी बाँहें फैला देती हैं)*, कैसे तुम्हारी तुलना में वह इतनी दूर है, इतनी दूर कि तुम उसका दूसरा तट देख भी नहीं सकते, उसके छोर के आस-पास भी नहीं

१. 'चेतना का फैलाव' तथा 'चेतना को विशाल बनाने के बौद्धिक तरीक़े'—सामग्री मार्च २०१९ में भी गयी थी, लेकिन, चूँकि इस अंक के लिए भी यह एकदम सटीक है, हम इसे जल्दी ही दोबारा दे रहे हैं।—सं.

पहुँच सकते, न पीछे, न आगे, न दाएँ, न बाएँ... वह विशाल, विशाल, विशाल, विशाल है।... तुम उसके बारे में सोचते हो और यह अनुभव करते हो कि तुम इस समुद्र पर उतरा रहे हो, इस तरह, और कहीं कोई सीमा **नहीं** है...। यह बहुत आसान है। तब तुम अपनी चेतना को कुछ, थोड़ा-सा विस्तृत कर सकते हो।

कुछ लोग, उदाहरण के लिए, आकाश को देखना शुरू करते हैं; और तब वे कल्पना करते हैं इन सब नक्षत्रों के बीच के अन्तरिक्ष और उस सारी अनन्तता की... जिसमें पृथ्वी एक छोटा-सा बिन्दु है, और तुम भी धरती पर एक छोटी-सी चींटी से भी छोटे बिन्दु हो। और तब तुम आकाश को देखते हो और अनुभव करते हो कि तुम इन अनन्त अन्तरिक्षों में, नक्षत्रों के बीच उतराते फिर रहे हो। और तुम दूर-दूर तक जाने के लिए ज़्यादा, और ज़्यादा विशाल होते जाते हो। कुछ लोग इस तरह सफलता पाते हैं।

एक और तरीक़ा है जिसमें तुम पृथ्वी की सभी चीज़ों के साथ तादात्म्य अनुभव करने की कोशिश करते हो। उदाहरण के लिए, जब किसी चीज़ के बारे में तुम्हारी दृष्टि संकीर्ण हो और तुम्हें दूसरों की दृष्टि और उनके दृष्टिकोण से चोट पहुँचती हो तो तुम्हें अपनी चेतना का स्थान बदलने से शुरू करना चाहिये, उसे दूसरों में रखने की कोशिश करो, और धीरे-धीरे अन्य सब लोगों के सोचने के विभिन्न तरीक़ों से अपने-आपको एक करने की कोशिश करो। यह ज़रा ज़्यादा... कैसे कहूँ?... ख़तरनाक है। क्योंकि दूसरों के विचारों और संकल्पों के साथ एक होने का मतलब होता है मूढ़ताओं और दुर्भावनाओं के ढेर के साथ तादात्म्य करना *(माताजी हँसती हैं)*, और इससे ऐसे परिणाम आ सकते हैं जो बहुत अच्छे न हों। फिर भी, कुछ लोग इसे आसानी से करते हैं। उदाहरण के लिए, जब उनका किसी से मतभेद होता है तो अपनी चेतना को विस्तार देने के लिए वे अपने-आपको दूसरे के स्थान पर रख कर चीज़ को अपने दृष्टिकोण से नहीं, दूसरे के दृष्टिकोण से देखते हैं। इससे चेतना का विस्तार होता है, यद्यपि उतना नहीं जितना पहले बताये गये उपायों से, जो बिलकुल निरापद हैं। उनसे तुम्हें कोई हानि नहीं होती, उलटे बहुत लाभ होता है। वे तुम्हें बहुत शान्त कर देते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३८९-९०

चेतना को विशाल बनाने के बौद्धिक तरीक़े

चेतना को विस्तृत करने के बहुत-से बौद्धिक तरीक़े हैं। मैंने अपनी पुस्तक में इन्हें अच्छी तरह समझाया है। लेकिन बहरहाल, जब तुम किसी चीज़ से ऊब जाओ, जब कोई चीज़ तुम्हें कष्टदायक या बहुत अप्रिय लगे, उस समय यदि तुम काल की शाश्वतता के बारे में, देश की असीमता के बारे में सोचना शुरू करो, अगर तुम उस सबके बारे में सोचो जो बीत चुका है, और उस सबके बारे में सोचो जो होने वाला है, और यह देखो कि यह सेकेण्ड सचमुच शाश्वतता में एक चलती हुई साँस के जैसा है, और यह एकदम बेतुकी बात मालूम होती है कि कोई ऐसी बात पर परेशान हो उठे जो काल की अनन्तता में... तुम्हारे पास उससे अवगत होने के लिए समय भी नहीं है, उसका कोई स्थान नहीं है, कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि सचमुच, शाश्वतता में एक सेकेण्ड क्या है? अगर तुम इसे समझ सको...इसे कैसे कहा जाये?... अगर तुम यह देख सको, अगर अपने अन्दर यह चित्र बना सको कि इस छोटी-सी धरती पर तुम कितने छोटे-से व्यक्ति हो, और चेतना का वह ज़रा-सा सेकेण्ड, जो इस समय तुम्हें कष्ट दे रहा है, या इतना अप्रिय हो रहा है—बस, यही, जो तुम्हारे अपने जीवन में बस, एक सेकेण्डमात्र है; तुम स्वयं पहले बहुत-सी चीज़ें रह चुके हो, और बहुत-सी चीज़ें भविष्य में बनोगे, और अभी जिस चीज़ का इतना असर हो रहा है, उसे सम्भवतः तुम अगले दस वर्षों में पूरी तरह भूल जाओगे, और अगर तुम्हें इसकी याद रही भी तो तुम कहोगे: "मैंने इसे कोई महत्त्व कैसे दे दिया था?"... अगर तुम पहले इस चीज़ का अनुभव कर सको, और फिर, यह देखो कि तुम्हारा अपना छोटा-सा व्यक्तित्व, जो शाश्वतता में एक सेकेण्ड या एक सेकेण्ड के बराबर भी नहीं है, समझे, लगभग अदृश्य, शाश्वतता में एक सेकेण्ड का भाग भी नहीं, इससे पहले एक पूरा जगत् फैलता रहा है और इसके बाद भी फैलेगा, अनिश्चित काल तक—सामने, पीछे—और... तो अचानक तुम्हें पता लगता है कि तुम्हारे साथ जो हुआ था उसे इतना अधिक महत्त्व देना कितना हास्यास्पद है...। **सचमुच** तुम्हें लगता है... कि अपने जीवन को, अपने-आपको या अपने साथ बीती बातों को महत्त्व देना कितना निरर्थक है। और अगर तीन मिनट के अन्दर-अन्दर तुम इसे ठीक तरह कर सको तो सारी अप्रियता

दूर हो सकती है, गहरी पीड़ा भी दूर हो सकती है। सिर्फ़ इस तरह की एकाग्रता, और अपने-आपको अनन्तता और शाश्वतता में रखना। सब कुछ चला जाता है। तुम उसमें से शुद्ध होकर निकलते हो। तुम इस तरह **सब** आसक्तियों से भी पिण्ड छुड़ा सकते हो, यहाँ तक कि मैं कहती हूँ, गहरे-से-गहरे दुःख से भी—इसी तरह हर चीज़ से मुक्त हो सकते हो—अगर तुम इसे ठीक तरह करना जानो। यह तुम्हें तुरन्त अपने छोटे-से अहंकार में से बाहर ले आता है। तो ऐसा है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३९०-९१

वैश्व चेतना को विकसित करना

... वैश्व चेतना का मतलब है—यह अनुभव करने की जगह कि तुम एक बिलकुल ही अलग सत्ता हो, एकदम अलग-थलग, औरों से भिन्न, यह अनुभव करो कि तुम एक विशाल समष्टि के एक ऐसे अंग हो, जिसका समस्त समग्रता के साथ सम्बन्ध है, जिसके अन्दर अन्य सभी की गतिविधियाँ और सभी के स्पन्दन आते हैं, जो अपने स्पन्दनों को सब में सञ्चारित करता है। यह अनुभव करो कि चेतना की सभी गतियाँ, सारे मनोवैज्ञानिक स्पन्दन एक छोटे-से व्यक्तित्व में ही नहीं रुक जाते जो अपने-आप में बन्द है, जो एक खोल में रहता है जिसका और किसी से कोई सम्बन्ध नहीं; शक्तियाँ उसके आर-पार गुज़रती हैं, एक से दूसरे में जाती हैं, एक को यहाँ छूती हैं, दूसरे को वहाँ। ये शक्तियाँ इतनी जटिल और बहुविध होती हैं कि यह पता ही नहीं लगता कि कौन-सी कहाँ शुरू होती है, और कहाँ समाप्त होती है। बिलकुल ऐसा लगता है मानों एक महान् समष्टि स्वयं अपने अन्दर गति कर रही है। तो, यह वैश्व चेतना कुछ ऐसी-सी चीज़ है।

हाँ, तो, सबसे पहले तो यह सोचना चाहिये; पहले यह अनुभव करना चाहिये कि मैं वैश्व विशालता में एक बिन्दु मात्र हूँ, और वह भी अलग-थलग नहीं, सबके साथ मिला हुआ। फिर, अपना अध्ययन करना चाहिये, अवलोकन करना चाहिये। तब तुम्हें शीघ्र ही यह देखने का अवसर मिलेगा कि स्पन्दन बाहर से आते हैं, तुम्हारे अन्दर से गुज़रते हैं, वे तुम्हारे अन्दर पैदा नहीं होते, तुम उन्हें ग्रहण करते और प्रकट करते हो। तो धीरे-धीरे, अध्ययन करते हुए, देखते-देखते, अवलोकन करते-करते तुम्हें उस चीज़

का भान हो जाता है जो सीमित नहीं है। तुम इस तरह वैश्व या सार्वभौम चेतना प्राप्त करना शुरू करते हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४७२-७३

चेतना का उलटाव

एक ऐसा क्षण होता है—क्योंकि यह एक ऐसा प्रश्न है जो अधिक-से-अधिक प्रखर, अधिक-से-अधिक तीव्र होता जाता है—जब तुम्हें ऐसा भी लगता है, यथार्थ रूप में ऐसा लगता है कि चीज़ें विचित्र हैं, यानी, वे वास्तविक नहीं हैं; एक क्षण आता है जब तुम्हारे अन्दर अपने बारे में जो संवेदन है, कि तुम तुम हो, यह अजीब हो जाता है, एक प्रकार की अवास्तविकता का संवेदन हो जाता है। और यह प्रश्न उठता ही रहता है : "तो फिर मैं क्या हूँ?" हाँ, तो एक ऐसा मुहूर्त होता है जब यह प्रश्न इतनी एकाग्रता और इतनी तीव्रता से आता है कि इस एकाग्रता की तीव्रता से अचानक एक उलटाव हो जाता है, और तब, इस ओर होने की जगह, तुम उस ओर होते हो, और जब तुम उस ओर होते हो तो सब कुछ बहुत आसान हो जाता है; तुम समझते हो, तुम जानते हो, तुम होते हो, तुम जीते हो, और तब तुम स्पष्ट रूप से बाक़ी सबकी अवास्तविकता देखते हो, और इतना पर्याप्त है।

इस क्षण के आने के लिए तुम्हें दिनों, महीनों, वर्षों, शताब्दियों, जन्मों तक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है। लेकिन अगर तुम अपनी अभीप्सा को तीव्र रखो तो ऐसा क्षण आता है जब दबाव इतना बढ़ जाता है, प्रश्न की तीव्रता इतनी प्रबल हो उठती है कि चेतना के अन्दर कुछ चीज़ उलट जाती है, और तब आदमी ठीक ऐसा अनुभव करता है : यहाँ होने की जगह, तुम वहाँ हो, बाहर से देखने और अन्दर देखने की कोशिश करने की जगह, तुम अन्दर होते हो; और जिस क्षण तुम अन्दर होते हो, उसी क्षण सब कुछ बदल जाता है, पूरी तरह से बदल जाता है, और तुम्हें जो कुछ सत्य, स्वाभाविक, सामान्य, वास्तविक, सुनिश्चित प्रतीत होता था वह सब तुरन्त—हाँ, बहुत भद्दा, बहुत अजीब, बहुत अवास्तविक, बिलकुल बेतुका लगने लगता है; लेकिन तुमने किसी ऐसी चीज़ को छू लिया है जो परम सत्य और शाश्वत चिरन्तन सुन्दर है, और इसे तुम फिर कभी नहीं खोते।

एक बार यह उलटाव हो जाये, तो तुम बाह्य चेतना में रह सकते हो, जीवन की वस्तुओं के साथ सामान्य सम्पर्क बनाये रख सकते हो, फिर भी वह चीज़ बनी रहती है और कभी नहीं हिलती। तुम, औरों के साथ व्यवहार में, थोड़ा-बहुत उनके अज्ञान और उनके अन्धेपन में गिर सकते हो, लेकिन हमेशा अन्दर, जीती-जागती चीज़ खड़ी रहती है जो अब हिलती तक नहीं जब तक कि वह हर चीज़ में प्रवेश नहीं पा लेती, यहाँ तक कि जब तक वह अज्ञान समाप्त न हो जाये और अन्धापन हमेशा के लिए ग़ायब न हो जाये। और यह पूरी तरह ठोस अनुभूति है जो अधिक-से-अधिक ठोस चीज़ों से ज़्यादा ठोस है, तुम्हारे सिर पर पड़ने वाले आघात से भी ज़्यादा ठोस, अन्य किसी भी चीज़ से ज़्यादा ठोस।

इसीलिए मैं हमेशा कहती हूँ... जब लोग मुझसे पूछते हैं कि हम यह कैसे जान सकते हैं कि हम अपने चैत्य पुरुष के सम्पर्क में हैं या नहीं या हम यह कैसे जानें कि हमने भगवान् को पा लिया है या नहीं, तो मुझे हँसी आती है; क्योंकि जब तुम्हें यह अनुभव हो तो बस, उसके बाद तुम कोई प्रश्न नहीं पूछ सकते, यह हो जाता है; तुम यह नहीं पूछते कि यह कैसे होता है, बस हो जाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २१५-१६

तब संसार भिन्न दीखता है

जब यह कहा जाता है कि यदि कोई सत्य-चेतना में प्रवेश कर जाता है, यदि कोई अपनी चेतना को बदल देता है तो उसके लिए स्वयं जगत् भी बदल जाता है, यह कोई रूपक नहीं होता, यह कोई पुष्पिता वाणी नहीं होती। और यह कोई बाहरी रूप या आभास भी नहीं होता : मनुष्य साधारण चेतना में रहते हुए जैसा देखता है उससे भिन्न रूप में देखने लगता है; सम्बन्ध भिन्न हो जाते हैं; कारण भिन्न हो जाते हैं, प्रभाव भिन्न हो जाते हैं। और किसी ऐसी वस्तु को देखने के बदले जो पारदर्शक नहीं होती—मनुष्य यह नहीं देख सकता कि पीछे क्या है, वह जो देखता है वह ऊपरी सतह, पपड़ी होती है; केवल वही चीज़ है जो दिखायी देती है और मनुष्य यह भी नहीं देख सकता कि कौन-सी चीज़ उसे चलाती है, उसे अस्तित्ववान् बनाती है—प्रत्येक वस्तु अन्दर से बाहर की ओर उलट जाती है, और इसीलिए,

यह कृत्रिम और असत्य, और लगभग अस्तित्वहीन प्रतीत होती है। और इसलिए, जब मनुष्य वस्तुओं को इस प्रकार, सामान्य तरीक़े से, समझ रहे हो, अपने-आपको बिना थकाये, ध्यान और एकाग्रता का अभ्यास करने के लिए तथा इस भाँति वस्तुओं को देखने के लिए प्रबल प्रयत्न करने के लिए विवश हुए बिना देखता है, जब यह उसका सामान्य, स्वाभाविक दर्शन होता है तब वह एक पूर्णतः भिन्न तरीक़े से वस्तुओं को समझता है —स्वाभाविक है कि तब संसार भिन्न दीखता है!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १४-१५

चेतना का बदलाव

यदि कोई अपनी उपलब्धि को स्थायी बनाना चाहे तो एक तथ्य ऐसा है जो स्पष्ट ही अनिवार्य प्रतीत होता है...। अनुभव आते हैं, चेतना को छूते हैं, कभी-कभी महान् ज्योतियाँ ले आते हैं, फिर धुँधले हो जाते हैं, पीछे की ओर चले जाते हैं और, ऊपर से देखने में, अपनी सामान्य चेतना में, तुम यह अनुभव नहीं करते कि वहाँ कोई महान् परिवर्तन हुआ है, कोई बहुत बड़ा अन्तर आया है। और यह चीज़ बहुत बार हो सकती है, वर्षों तक बार-बार होती रह सकती है। तुम एकाएक एक प्रकार का अन्तःप्रकाश, एक ज्योति की तरह, प्राप्त करते हो, तुम सत्य चेतना में होते हो और तुम्हें ऐसा बोध होता है कि तुमने यथार्थ वस्तु को पा लिया है। और फिर, धीरे-धीरे, या फिर अचानक ऐसा लगता है कि वह चीज़ तुम्हारे पीछे हट गयी है और तुम उसे खोजते हो पर तुम्हें पता नहीं चलता कि तुम्हारे अन्दर कोई महान् परिवर्तन आया है...। ऐसा प्रतीत होता है कि ये चीज़ें या तो सन्देशवाहकों या प्रतिज्ञाओं के रूप में आती हैं: "देखो, यह होगा", अथवा तुमसे यह कहने के लिए आती हैं कि: "हाँ, विश्वास रखो, यह इसी प्रकार **होगा**।"

और यह बात कई बार हो सकती है। प्रगति तो होती है, स्पष्ट ही, पर वह होती है बहुत धीमी और आसानी से दिखायी नहीं देती।

परन्तु उसके बाद, अकस्मात्—शायद इस कारण कि मनुष्य पर्याप्त रूप में तैयार है, सम्भवतः बस, इसी कारण, कि मुहूर्त आ गया है, और वैसा ही निर्दिष्ट था—अकस्मात्, जब ऐसा कोई अनुभव आता है, तब

सत्ता के जिस भाग में यह होता है वहाँ इसका परिणाम होता है चेतना का पूर्ण उलटाव। यह बहुत स्पष्ट, बहुत ठोस तथ्य होता है। इसका वर्णन करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है : एक पूर्ण विपर्यय या उलटाव। और तब सत्ता के अन्य भागों के साथ तथा बाहरी जगत् के साथ चेतना का सम्बन्ध मानों पूरी तरह परिवर्तित हो जाता है। बिलकुल एक उलट-पलट की तरह। और वह विपर्यय फिर कभी पुराने स्थान पर वापस नहीं जाता, चेतना कभी अपनी पहली अवस्था में वापस नहीं जाती—जिसे श्रीअरविन्द 'स्थिति' कहेंगे। एक बार जब यह चीज़ सत्ता के किसी भाग में हो जाती है तो सत्ता का वह भाग पक्का हो जाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २०५-०६

जो कुछ है वह मूलतः दिव्य है

प्रत्येक वस्तु चेतना के सचेतन होने या न होने के तथ्य पर निर्भर करती है। और एकमात्र सर्वोच्च 'चेतना' के अन्दर ही तुम अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकते हो।

परन्तु यह एक तथ्य है कि 'एकत्व' विद्यमान है, चाहे तुम इसके विपरीत ही अनुभव क्यों न करो, और इस तथ्य के विषय में तुम कुछ नहीं कर सकते, क्योंकि यह एक दिव्य तथ्य है—यह एक दिव्य कर्म और एक दिव्य तथ्य है। अगर तुम भगवान् के विषय में सचेतन हो, तुम इस तथ्य के विषय में भी सचेतन हो जाते हो। यदि तुम भगवान् के विषय में सचेतन नहीं हो तो यह तथ्य तो रहता ही है पर बस तुम उसके विषय में सचेतन नहीं हो—बस, इतना ही।

तो, प्रत्येक चीज़ चेतना की क्रिया पर निर्भर करती है। और संसार अन्धकार, यन्त्रणा, दुःख-दैन्य आदि की स्थिति में है... प्रत्येक चीज़, प्रत्येक चीज़ जो यहाँ है, इसका कारण बस यह है कि यह भगवान् के विषय में अवगत नहीं है; क्योंकि इसने अपनी चेतना के साथ का सम्बन्ध काट दिया है, क्योंकि इसकी चेतना भगवान् से पृथक् हो गयी है। कहने का तात्पर्य, यह संसार अचेतन बन गया है।

कारण, सच्ची चेतना है दिव्य 'चेतना'। यदि तुम दिव्य 'चेतना' से अपने को अलग कर लेते हो तो तुम बिलकुल अचेतन बन जाते हो; ठीक-ठीक

यही चीज़ घटित हुई है। और इसलिए, प्रत्येक चीज़ जो यहाँ है, संसार जैसा कि यह है, तुम्हारी चेतना जैसी कि वह है, वस्तुएँ जिस स्थिति में हैं, ये सब इस चेतना की पृथक्ता और इसकी आसन्न धूमिलता का परिणाम हैं।

जिस क्षण व्यक्तिगत चेतना दिव्य 'चेतना' से पृथक् हो जाती है, वह उसमें प्रविष्ट हो जाती है जिसे हम निश्चेतना कहते हैं, और यही निश्चेतना वह चीज़ है जो व्यक्ति की सभी विपत्तियों का कारण है।

परन्तु जो कुछ है वह सब मूलतः दिव्य है, और दिव्य 'एकत्व' एक तथ्य है, तुम उसका कुछ नहीं कर सकते; तुम्हारी सारी अचेतनता और तुम्हारी सारी अस्वीकृतियाँ उसमें कोई परिवर्तन नहीं ला सकतीं—यह एक तथ्य है, यह बस ऐसा ही है।

और निष्कर्ष यह है कि सच्चा रूपान्तर चेतना का रूपान्तर है—बाक़ी सब चीज़ें उसके बाद स्वतः आ जायेंगी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ९३-९४

हम स्वयं अपने अन्दर खोज सकते हैं, याद कर सकते हैं, निरीक्षण कर सकते हैं; हमें ध्यान देकर देखना चाहिये कि क्या चल रहा है, हमें पूरी सावधानी बरतनी चाहिये, बस। कभी-कभी, जब हम कोई उदारतापूर्ण कार्य देखते हैं, कोई असामान्य बात सुनते हैं, जब हम वीरता, उदारता या आत्मा की भव्यता का निरीक्षण करते हैं, किसी ऐसे व्यक्ति से मिलते हैं जो एक विशेष योग्यता प्रदर्शित करता है या किसी असाधारण तथा सुन्दर तरीक़े से काम करता है तो उस समय एक प्रकार का उत्साह या आदर-भाव या कृतज्ञता होती है जो एकाएक सत्ता में जग जाती है और एक स्थिति की ओर, चेतना की एक नयी स्थिति, एक ज्योति, एक प्रकार की उष्णता, एक प्रकार के हर्ष की ओर दरवाज़ा खोल देती है जिन्हें हम पहले नहीं जानते थे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४८१-८२

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

मई

१. अपने कर्म को बदलने के लिए बहुत ज़्यादा नम्रता और बहुत प्रबल संकल्प होना चाहिये।

२. अन्तरात्मा की समता एक मनोवैज्ञानिक चीज़ है। यह है, अच्छा-बुरा जो कुछ भी हो उससे दुःखी, निरुत्साहित, निराश या विक्षुब्ध हुए बिना सह सकना। जो कुछ भी हो तुम विक्षुब्ध हुए बिना शान्त बने रहो।

३. तुम जगत् से भाग कर उसे नहीं बदल सकते। यहाँ काम करते हुए, नम्रता और विनय के साथ काम करते हुए उसे बदला जा सकता है; तुम्हारे हृदय में आग हो, ऐसी चीज़ हो जो आहुति की तरह जलती हो।

४. धरती पर जीवन प्रगति के क्षेत्र के रूप में बनाया गया है और यदि हम अधिक-से-अधिक प्रगति करें तो धरती के जीवन से अधिक-से-अधिक लाभ उठा सकेंगे। और तब तुम प्रसन्न होते हो। जब व्यक्ति जो कर सकता है उसे अच्छे-से-अच्छा करे तो वह प्रसन्न होता है।

५. जब तुम सचेतन हो और सहयोग दो और वास्तव में जो करना चाहिये उसे सचेतन रूप से करते चलो तो प्रगति बहुत अधिक तेज़ी से होती है।

६. तुम्हें सचेतन होने के संकल्प को निरन्तर बनाये रखना चाहिये और फिर मानसिक संकल्प को अभीप्सा में बदलना चाहिये। तुम्हारे अन्दर यह गति होनी चाहिये। और फिर कभी न भूलो। तुम्हें देखना चाहिये, अपने-आपको देखना चाहिये, और अपने जीवन को सच्चाई के साथ, बिना भूल किये देखना चाहिये। अपने-आपको कभी धोखा न दो।

७. अपने हृदय में ज्योति जगाओ और उसकी ओर अभीप्सा करो जो "अधिक सुन्दर, अधिक सत्य, अधिक उदात्त है, जो कुछ मैं जानता हूँ उससे अधिक अच्छा है। मैं याचना करता हूँ कि कल से मैं इन सब चीज़ों को जानना शुरू करूँ, मैं जिन चीज़ों को नहीं कर सकता उन सबको करना शुरू करूँ, और हर रोज़ कुछ अधिक।"

८. जिस व्यक्ति के पास ज्ञान है, उसे भय नहीं। जो पूर्णतया जाग्रत् है,

जो पूरी तरह सचेतन है और जो जानता है वह भय से मुक्त है। हमेशा अन्धकारपूर्ण वस्तु को ही डर लगता है।

९. यदि व्यक्ति सचमुच अपना दुःख दूर करना चाहता है, यदि बाधा पर विजय प्राप्त करने की उसकी अभीप्सा सच्ची है तो उसे अपने-आपसे ऊपर उठना होगा, उस सबका त्याग कर देना होगा जो उसे पीछे की ओर खींचता है, सीमाओं को तोड़ देना होगा, जो वस्तु उसके मार्ग को अवरुद्ध करती है उसे अलग करके अपने-आपको स्वच्छ एवं निर्मल बनाना होगा।

१०. छोटी-से-छोटी वस्तु भी तुम्हें प्रगति करना सिखा सकती है। चूँकि तुम्हारे अन्दर प्रगति करने की चेतना और संकल्प होते हैं, प्रत्येक वस्तु तुम्हारे लिए एक अवसर बन जाती है और तुम विकास करने की इस चेतना और संकल्प को सब वस्तुओं पर प्रक्षिप्त कर सकते हो।

११. भगवान् के लिए कार्य करो और तुम अपने अन्दर एक अवर्णनीय हर्ष का अनुभव करोगे।

१२. केवल अचञ्चलता तथा शान्ति में ही तुम जान सकते हो कि क्या करना उत्तम होता है।

१३. अपनी अभीप्सा में लगे रहो—वह सम्पन्न होगी।

१४. केवल 'भागवत चेतना' ही सच्ची सहायता, एकमात्र सच्चा आनन्द है।

१५. हमेशा भगवान् का स्मरण करो और तुम जो कुछ करोगे वह 'भागवत उपस्थिति' की अभिव्यक्ति होगा।

१६. जहाँ कहीं सच्चाई-निष्कपटता और सद्भावना होती है, वहाँ हमेशा भगवान् की कृपा भी रहती है।

१७. आओ, हम अपना कार्य भगवान् के अर्पण कर दें, प्रगति करने का यह निश्चित तरीक़ा है।

१८. सुखी तथा प्रभावकारी जीवन बिताने के लिए अनिवार्य चीज़ें हैं—निष्कपटता, विनम्रता, अध्यवसाय तथा प्रगति के लिए कभी न बुझने वाली प्यास।

१९. कभी कोई ऐसा काम मत करो जिसे तुम भगवान् के सामने नहीं कर सकते।

२०. हमारे जीवन को 'सत्य' के लिए 'प्रेम' तथा 'प्रकाश' लिए प्यास से

शासित होना चाहिये।

२१. तुम्हारा जीवन 'सत्य' के लिए सतत खोज बन जाये और तब वह जीने-लायक बन जायेगा।

२२. ... हे प्रभो! यदि मेरी समझ सीमित है तो उसे विस्तृत कर, यदि मेरा ज्ञान धुँधला है तो उसे प्रबुद्ध बना, यदि मेरा हृदय उत्साहहीन है तो उसमें उमंग की अग्नि धधका।

२३. जो लोग भगवान् से माँगते हैं वे उन्हें उनकी माँग के अनुसार दे देते हैं, लेकिन जो अपने-आपको भगवान् के हवाले कर देते हैं और कुछ नहीं माँगते, वे उन्हें वह सब दे देते हैं जिसे वे अन्यथा उनसे माँगते या जिसकी उन्हें आवश्यकता होती, और इसके साथ ही वे स्वयं अपने-आपको और अपने प्रेम के सभी सहज वरदानों को भी दे देते हैं।—श्रीअरविन्द

२४. ... हे प्रभो, तेरे भागवत प्रेम की एक बूँद दुःख-कष्ट को आनन्द के सागर में रूपान्तरित कर सकती है!

२५. समस्त संकीर्णता, स्वार्थ तथा सीमाओं को झाड़ फेंको और मानव 'ऐक्य' की चेतना में जागो।

२६. मानव सांसारिक जीवन में भगवान् के सपनों को साकार करने के प्रयत्न में जुटा हुआ है।—श्रीअरविन्द

२७. प्रभु का सत्कार करने के लिए हमेशा तैयार रहो, क्योंकि 'वे' कभी भी तुम्हारे दरवाज़े पर आ उपस्थित हो सकते हैं।

२८. सभी चिन्ताओं को प्रभु की देख-रेख में छोड़ दो, यहाँ तक कि अपनी प्रगति की चिन्ता को भी, और तुम शान्ति में रहोगे।

२९. एक दिन में कोई अपने स्वभाव को नहीं बदल सकता। लेकिन धीरज और स्थायी इच्छा-शक्ति के होने से 'विजय' का आना निश्चित है।

३०. ... हम सभी अपने अन्दर 'तुझे' लिये रहते हैं, और अपनी अन्तरात्मा की नीरवता में हम 'तेरी' ही वाणी की प्रतिध्वनि सुनते हैं।

३१. आओ, हम अपनी इच्छा को एक महान् अभीप्सा से जोड़ दें और भगवान् के हस्तक्षेप के लिए प्रार्थना करें। चमत्कार हमेशा होते ही रहते हैं। हमारी श्रद्धा की सच्चाई में हमारी विजय की निश्चिति होती है।

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

आन्तरिक जीवन के बारे में सचेतन बनो

श्रीअरविन्द अपनी पुस्तक 'मानव-एकता का आदर्श' में कहते हैं कि आख़िर मानव-एकता किस तरह चरितार्थ होगी और कैसे एक ऐसा बाहरी भौतिक ढाँचा तैयार होगा जिसमें हर मनुष्य न केवल अपनी आध्यात्मिक बल्कि साथ ही अपनी उच्चतम भौतिक पूर्णता भी पायेगा। अगर यह न हो तो श्रीअरविन्द के अनुसार उस मानव-एकता का कोई मूल्य नहीं।

श्रीअरविन्द हमारे सामने एक महान् दृष्टि और उसकी उपलब्धि रखते हैं। वे कहते हैं कि इसमें भारत नेतृत्व करेगा क्योंकि इस दृष्टि का आधार आध्यात्मिक है। जब तक मनुष्य की चेतना में परिवर्तन न हो, जब तक वह अपनी सत्ता को भागवत उपस्थिति के साथ अन्दर से एक नहीं करता तब तक कोई भी बाहरी समाधान सम्भव न होगा। हमने बहुत-से मार्ग अपनाये हैं पर वे हमेशा असफल रहे हैं।...

अब हमारे सामने एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या सचमुच दिव्य चेतना का अस्तित्व है? और अगर उसका अस्तित्व है तो क्या उसे चरितार्थ किया जा सकता है और मानव जीवन में उतारा जा सकता है और क्या वह हमें दिशा दे सकती है?

श्रीअरविन्द ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि यह हो सकता है, इतना ही नहीं बल्कि यही एकमात्र मार्ग है। यह मत सोचो कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह कठिन है। जब तुम इसके लिए प्रयास करना शुरू करोगे तो पता चलेगा कि हम जितना सोचते हैं यह उससे आधा भी कठिन नहीं है। भारत का पुनर्निर्माण करना है और माताजी ने कहा है कि **जगत् का भावी निर्माण भारत पर निर्भर है**। भारत अपने-आपमें एक पूरा जगत् है, इतने सारे लोग, इतने प्रकार के विचार! अगर भारत ऐसे राजनीतिक और सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे का निर्माण कर सके जहाँ मनुष्य को स्वाधीनता और एकता प्राप्त हो—भिन्नता में एकत्व हो—जहाँ मनुष्य आध्यात्मिक और भौतिक दृष्टि से विकसित हो सके, जहाँ सभी संघर्ष और कलह लुप्त हो सकें तो सारा जगत् भारत का अनुकरण करेगा। कम्यूनिज़म आया,

सोशलिज़म आया, बहुत-से राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक सिद्धान्त आये पर सबके सब असफल रहे क्योंकि उनमें आत्मा का कोई भाग न था। औरों के लिए मनुष्य केवल एक बाह्य व्यक्तित्व है, लेकिन हमारे लिए मनुष्य एक आत्मा है जिसके साथ शरीर, मन और प्राण है। तो इस बात को मन में रखते हुए हम श्रीअरविन्द के योग को समझने और व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से उनके मार्ग पर चलने की कोशिश करेंगे।

केवल श्रीअरविन्द के योग का ही एक सामूहिक पक्ष है। बाक़ी सब योग व्यक्तिगत हैं। सभी योगों का लक्ष्य है भगवान् को पाना। परम्परा के अनुसार यह जीवन के अन्तिम चरणों में, वानप्रस्थ और संन्यास में, किया जाता था। *गीता* का योग एक क़दम और आगे बढ़ा—भगवान् को पाना लक्ष्य नहीं, आरम्भ है। तुम भगवान् को प्राप्त करते और फिर उनकी आज्ञा के अनुसार चलते हो। *गीता* की यही शिक्षा है। तुम वही करते हो जो भगवान् की आज्ञा हो; परन्तु भगवान् की आज्ञा को कैसे जाना जाये यह *गीता* का योग है।

श्रीअरविन्द इससे भी एक चरण आगे जाते हैं। वे कहते हैं कि तुम भगवान् की आज्ञा तो पा सकते हो पर हो सकता है कि तुम उसे चरितार्थ न कर सको। आज्ञा को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से पूरी तरह चरितार्थ कर सकने के लिए तुम्हें पूर्ण यन्त्र होना चाहिये। इसीलिए माताजी और श्रीअरविन्द कहते हैं कि वैयक्तिक विकास काफ़ी नहीं है, पृथ्वी पर अतिमानसिक चेतना को उतरना चाहिये। वैयक्तिक विकास प्रारम्भिक चरण हो सकता है परन्तु अतिमानसिक चेतना को पृथ्वी पर उतरना चाहिये और मार्गदर्शक तत्त्व बन जाना चाहिये, उसी तरह जैसे आजकल मन है, और जब यह हो जायेगा तो दुनिया बदल जायेगी। श्रीअरविन्द के योग का एक और पक्ष है कि अतिमानसिक चेतना बस कुछ ही लोगों के एकाधिकार में न होगी। अगर कोई महायोगी अपनी चेतना को वैश्व बना ले तो जगत् उसकी चेतना में निवास करेगा और वह अवतरण का आह्वान कर सकेगा, ताकि अतिमानस नीचे आकर पार्थिव चेतना को शराबोर कर सके और धीरे-धीरे सारी मनुष्यजाति को बदल दे।

माताजी ने घोषणा की थी कि १९५६ में यह हो गया और उसने प्रगति के विशाल द्वार खोल दिये, प्रत्याशाएँ जगा दीं। हम यह समझने की कोशिश

करेंगे कि वह हमारे व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन पर, हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन पर कैसे असर डाल सकता है।

सामान्य तौर पर हम कह सकते हैं कि योग में पहली चीज़ तो हमें यह करनी है कि अपना अवलोकन करें। अपने-आपको देखो—मेरे अन्दर यह विचार क्यों आया? मैंने ऐसा स्वप्न क्यों देखा, मेरे साथ यह क्यों हो रहा है? यदि तुम्हारी यात्रा के आरम्भ में ही यह **क्यों** न आये तो तुम श्रीअरविन्द की चीज़ें पढ़ते हुए बहुत-सी बातें न समझ पाओगे। उदाहरण के लिए, वे कहते हैं कि ऐसे स्पन्दन हैं जो गोल चक्कर लगाते हैं और कुछ ऐसे स्पन्दन हैं जो सीधे आते हैं। अगर तुमने स्पन्दनों को अपने अन्दर आते और अपने शरीर का स्पर्श करते हुए अनुभव नहीं किया है, स्पन्दनों को आते, सिर को छूते और मस्तिष्क में विचार बनाते हुए नहीं देखा है तो तुम सारी चीज़ को न समझ पाओगे।

तो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीज़ों में से एक है, अपने आन्तरिक जीवन के बारे में सचेतन होना।... याद रखो, माताजी कहती हैं कि हम यहाँ वही दोहराने के लिए नहीं आये हैं जो और लोग करते हैं या उन्होंने किया है। ठीक इसी कारण हमें उसे नहीं दोहराना चाहिये। हम यहाँ एक नये जीवन को नये तरीक़े से व्यवस्थित करने आये हैं। परन्तु अभी हमें नहीं मालूम कि यह नया तरीक़ा क्या होगा।

इसलिए पहला प्रश्न है, इस नयी चेतना के साथ सम्पर्क कैसे साधा जाये? नयी चेतना के साथ सम्पर्क साधना आसान नहीं है क्योंकि श्रीअरविन्द का योग व्यक्तिगत परिवर्तन, सामुदायिक परिवर्तन, वैश्व परिवर्तन, आन्तरिक और बाह्य परिवर्तन की माँग करता है। इसके लिए साधना भी सर्वांगीण होनी चाहिये क्योंकि उसका एक मनोवैज्ञानिक पक्ष होता है, ध्यान-पक्ष और कर्मयोग और हठयोग का पक्ष होता है—यह वह नहीं है जिसे हम साधारणतः आसन और प्राणायाम आदि मानते हैं—और इनके साथ ही भक्ति-योग भी चलता है। तो यह सर्वांगीण योग है जो अपने साथ सभी पहलुओं को ले लेता है।

(क्रमशः)

—नवजात जी

रुकावटों की क्या परवाह है, हम सदा आगे बढ़ेंगे। —श्रीमाँ

"मेरी नन्हीं मुस्कान" के नाम पत्र

('मेरी नन्हीं मुस्कान' के नाम, यह उन पहले बच्चों में से थी जिन्हें आश्रम में प्रवेश मिला था। यह चौदह वर्ष की अवस्था में आयी थी। नन्हीं मुस्कान बहुत वर्षों तक माताजी के कपड़ों पर कशीदाकारी करती रहीं और फिर उनकी व्यक्तिगत सेविकाओं में से एक हो गयीं। उन्होंने सत्रह वर्ष की अवस्था में माताजी को पत्र लिखना शुरू किया था।)

... जो हो चुका उस पर कुछ समय के बाद नज़र डालने से एक लाभ होता है। दूर से, क्रिया से अलग होकर तुम ज़्यादा स्पष्ट देख सकते और ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकते हो कि क्या करना और क्या नहीं करना चाहिये था। २० दिसम्बर १९३२

प्यारी माँ,

अगर आप चाहती हैं कि ये कल्पनाएँ मेरे अन्दर बनी रहें तो उन्हें बनी रहने दीजिये, लेकिन अगर आप उन्हें नहीं चाहतीं तो उन्हें जड़ से उखाड़ फेंकिये।

दुबारा कहती हूं, चिन्ता न करो; जिस चीज़ को ग़ायब हो जाना चाहिये वह ग़ायब हो जायेगी। केवल वही बनी रहेगी जो अच्छी है।

२५ दिसम्बर १९३२

प्यारी माँ,

मेरा ख़याल है कि यह आख़िरी चीज़ है जो मैं आपको लिख रही हूँ। मैं अब लिखना बन्द कर देना चाहूँगी क्योंकि मैं बहुत थकान महसूस कर रही हूँ।

मैं जानती हूँ कि आप इसे पसन्द नहीं करेंगी, लेकिन मेरा कहना है कि मुझे एक ओर फेंक देना ज़्यादा अच्छा है। मैं बिलकुल बेकार हूँ। फिर कुछ दिनों से मैं अपने काम में अनियमित हो गयी हूँ। आपने एक बार कहा था कि आपके प्रति अपने-आपको खोलना

मेरा काम है क्योंकि आपकी सहायता हमेशा मेरे साथ रहती है। लेकिन पता नहीं मैं अपने-आपको आपके प्रति कब खोलूँगी। मैं पत्थर की तरह कठोर हूँ। अगर मुझे पहले से मालूम होता कि ये चीज़ें इतनी कठिन हैं तो मैं यहाँ आने के बारे में कभी न सोचती। माँ, मैं आशा करती हूँ कि आप यह न कहेंगी कि मैं विद्रोह कर रही हूँ। मैं यह नहीं सुनना चाहती।

पता नहीं माँ, यह सब मैंने क्यों लिखा है। कृपया मुझ पर नाराज़ न होइये, आपके सिवा मेरा कोई नहीं है।

यह अनुत्साह किसलिए? हर एक की अपनी कठिनाइयाँ होती हैं, तुम्हारी औरों की अपेक्षा ज़्यादा अनुल्लंघ्य नहीं हैं। तुम्हें केवल विश्वस्त और प्रसन्न रहना चाहिये। २७ दिसम्बर १९३२

प्यारी माँ,

"जिसे ग़ायब हो जाना चाहिये वह ग़ायब हो जायेगा; केवल जो अच्छा है वही बना रहेगा।"

एक दिन आपने मेरी कॉपी में यह लिखा था। लेकिन मैंने जिन-जिन चीज़ों के बारे में आपको लिखा था वे सब अभी तक ग़ायब नहीं हुई हैं। शायद वे सब अच्छी हैं! और शायद यह विद्रोह, असन्तोष, अनुत्साह और चिड़चिड़ापन भी अच्छे हैं, क्योंकि वे मेरे अन्दर बने हुए हैं, वे ग़ायब नहीं हुए। और शायद मुस्कान, नियमित काम और विश्वास बुरे हैं क्योंकि मैं देखती हूँ कि वे, कम-से-कम अभी के लिए, ग़ायब हो गये हैं।

और अगर मेरे अन्दर कुछ भी बुरा नहीं है तो हम इतना कष्ट क्यों उठा रहे हैं? शायद चुपचाप रहना ही ज़्यादा अच्छा होगा क्योंकि "जिसे ग़ायब होना है वह ग़ायब हो जायेगा, सिर्फ़ जो अच्छा है वही बना रहेगा।"

माताजी, मैं यह जानती हूँ कि मैंने यह सब जो लिखा है इसे आप पसन्द न करेंगी, पर मैं करूँ क्या? मुझे आपको यह सब लिखना ही पड़ता है।

मैं नाराज़ नहीं हूँ क्योंकि तुमने यहाँ जो कुछ लिखा है उसका कोई अर्थ नहीं—मुझे तुम पर तरस आता है, बस इतना ही। क्या मैंने तुमसे कहा था कि वह सब तुरन्त, **इसी क्षण** ग़ायब हो जायेगा, विशेष रूप से तब जब कि स्वयं तुम उसे अस्वीकार करने की जगह बनाये रखने की ओर ज़्यादा प्रवृत्त हो?

२८ दिसम्बर १९३२

प्यारी माँ,

आज सवेरे नौ बजे के बाद 'क' मेरे कमरे में आया। उसने मुझे सलाह दी कि मैं विरोधी सुझावों की ओर कान न दूँ इत्यादि, इत्यादि। उसने मुझे एक भाषण दे डाला। उसने तो नहीं कहा लेकिन मेरा ख़याल है कि आपने ही उसे मेरे कमरे में भेजा होगा।

लेकिन मुझे आपसे कह देना चाहिये कि मैं नहीं चाहती कि लोग मेरे कमरे में आकर मुझे भाषण दें। क्या जो कुछ ज़रूरी हो वह आप स्वयं मुझे नहीं बता सकतीं? क्या मैं आपके साथ यहीं नहीं हूँ? क्या मैं बहुत दूर हूँ? तब मुझे औरों की सलाह क्यों सुननी पड़ती है?

तुम्हारा स्वमान और दर्प क्रुद्धावस्था में हैं इसलिए जहाँ स्नेह है वहाँ भी वे तुम्हें उसे देखने से रोकते हैं।

मुझे मालूम नहीं कि मैं जो कुछ लिखती हूँ उसके बारे में आप 'ख' को बतलाती हैं या नहीं, लेकिन मैं चाहूँगी कि आप ऐसा न करें।

केवल श्रीअरविन्द जानते हैं कि तुम मुझे क्या लिखती हो।

आपने एक बार मुझे इसी कॉपी में अपनी सहायता के बारे में लिखा था (१६ दिसम्बर), "यह तुम पर निर्भर करता है कि तुम उसके प्रति खुलो और उसे ग्रहण करो और निश्चय ही विद्रोही और असन्तुष्ट होकर तुम उसे प्राप्त न कर सकोगी।"

और फिर आपने और एक जगह लिखा था (७ दिसम्बर): "जो चीज़ें तुम्हें कष्ट दे रही हैं उनके बारे में जैसे ही तुम मुझे बतलाओगी वैसे ही तुम देखोगी कि वे ग़ायब हो गयी हैं और तुम मुक्त और

प्रसन्न अनुभव करोगी।"

तो मैं आपसे कह रही हूँ कि यह विद्रोह और यह चिड़चिड़ापन भी मुझे कष्ट दे रहे हैं।

और सब चीज़ों में ये सबसे ख़राब हैं।

मेरा ख़याल है कि मैंने आपको बतला दिया है कि कौन-कौन सी चीज़ें मुझे कष्ट दे रही हैं।

केवल **कह देना** काफ़ी नहीं है। तुम्हें यह चाहना भी चाहिये कि वे ग़ायब हो जायें।

माँ, आज मैं उदास हूँ, पता नहीं क्यों पर आज मैं रोयी भी थी।

यह बिलकुल स्वाभाविक है; जब तुम केवल घमण्ड के कारण अपनी अन्तरात्मा की ओर पीठ कर लो तो दुःखी हुए बिना कैसे रह सकती हो!

माँ, कृपया मुझे इस अनुत्साह और विद्रोह से छुटकारा दिला दीजिये। क्या आप मुझे इन चीज़ों से नहीं बचायेंगी?

अपनी सारी इच्छा के साथ मैं तुम्हें बचाना चाहती हूँ, लेकिन तुम्हें मुझे यह करने देना चाहिये। विद्रोह करने का अर्थ है दिव्य प्रेम को अस्वीकार कर देना और केवल दिव्य प्रेम में ही बचाने की शक्ति है।

२८ दिसम्बर १९३२

प्यारी माँ,

क्या मैं तुम्हारी बच्ची नहीं हूँ? हाँ, मैं जानती हूँ कि मैं नटखट बच्ची हूं लेकिन मैं करूँ क्या? नटखट होऊँ या नहीं, हूँ तो तुम्हारी बच्ची ही।

मुझे नहीं लगता कि तुम नटखट हो और मैं जानती हूँ कि तुम मेरी बच्ची हो।

२९ दिसम्बर १९३२

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ७८-८२

मेरी अम्माजी

(संस्मरण)

लोग कहते हैं, नारी अबला होती है, दुःख की बात यह है कि बहुत-सी नारियाँ भी अबला कहाने में गौरव का अनुभव करती हैं। मेरी नानीजी उनमें से न थीं। शारीरिक बल में भले वे बहुत विलक्षण न हों पर बुद्धि-बल और संकल्प-बल के सहारे वे सबला कहाने-लायक थीं। यूँ तो उन्हें शरीर छोड़े बरसों बीत चुके हैं पर उनकी यादों ने मुझसे कभी किनारा नहीं किया। भले उनके पास रहने-रहाने का अवसर मुझे कम ही मिला, लेकिन जितना मिला या उनके बारे में जितना सुना, उसी में उनके चरित्र के गौरव, उनकी ठसक और आभिजात्य का अच्छा-ख़ासा परिचय मिल गया। और उसी के बूते आज यह लेखनी फिर से कुछ एक लमहों को जीवित कर, एक बार फिर, नानीजी को मूर्त रूप में खड़ा करना चाहती है।

कम-से-कम पचास-पचपन बरस पहले की बात होगी, नानीजी, जिन्हें हम अम्माजी कहा करते थे, हापुड़ से कलकत्ता जा रही थीं, एकदम अकेली। डर से उनका न कभी परिचय था, न हुआ। लेकिन, कलकत्ते बैठे मामाजी को जब पता लगा कि सफ़र में साथ देने वाला कोई न मिला तो दिल की धड़कनें तेज़ हो गयीं, यह तो मालूम था कि उन्हें किसी हालत में आने से रोका नहीं जा सकता, इसलिए तुरन्त तार दिया कि महिलाओं के डिब्बे में ही सीट आरक्षित करवायी जाये। ख़ैर, होनी के कारण वैसा ही किया। लेकिन दुर्भाग्य या सौभाग्य, अन्त में चाहे जो कह लीजिये, स्टेशन आकर पता लगा कि सूचीपट्ट में उनका कहीं नाम ही नहीं, यानी सीट आरक्षित ही न हुई थी। साथ आये चाचाजी बोले—अम्मा, अब तो तुम जा नहीं सकोगी, तुम्हारे नाम की कोई सीट ही नहीं है। हठी अम्माजी बोलीं—क्या कहते हो लाला, भाड़ में जाये तुम्हारी सीट फीट, बस एक टिकट कटा कर मुझे गाड़ी में चढ़ा दो बाक़ी मैं ख़ुद देख लूँगी। चाचाजी ने दबी आवाज़ में बहुत ननुनच की, उनके साथ ज़ोर से बोलने का तो घरवालों में से किसी में साहस न था। आख़िर हठी अम्माजी की जीत हुई। हनुमान-चालीसा का पाठ करते-करते चाचाजी ने उन्हें महिलाओं के डिब्बे में चढ़ा दिया, इधर गाड़ी भभक कर चली उधर प्रणाम कर चाचाजी बस इतना ही बोल

सके—जय बजरंग बली, रक्षा करना।

इधर अनारक्षित महिला-डिब्बा तो ऐसा खचाखच भरा था कि बैठने के लिए ज़रा-सी भी जगह निकालने के लिए झगड़ना पड़े। अम्माजी कुछ देर तक खड़ी रहीं फिर वहीं रास्ते में अपना सन्दूक डाल उसी पर बैठ गयीं। सोचने लगीं, दो रातों का सफ़र क्या यूँ ही तै करना होगा? फिर राम आसरे सब कुछ छोड़ कर डिब्बे की महिलाओं का मुआयना करने लगीं। शायद किसी शादी में जा रहा था पूरा दल का दल—ज़ेवरों, भारी-भरकम साड़ियों से लदी-फँदी औरतें!! छह घण्टे बीत गये। गाड़ी किसी बड़े स्टेशन पर आकर रुकी। धक्कम-धक्का, रेल-पेल मची और खचाखच भरे डिब्बे में ठेल-ठाल कर तीन मुसलमान स्त्रियाँ चढ़ आयीं। अचानक अम्माजी के पेट में भयंकर पीड़ा उठने लगी—हाय री मर गयी मैं तो, हाय कोई बचाओ। सारी स्त्रियाँ हक्की-बक्की रह गयीं कि भली-चंगी बैठी थीं, अचानक इन्हें हो क्या गया? कुछ ने उठ कर उन्हें सीट पर सुलाया। लेकिन उनका दर्द जान लेने पर उतारू था। चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगीं—अरे कोई मेरे बेटे को बुला दे, वह इसी गाड़ी में टी.टी. है, वह तो मेरे लिए सीट का इन्तज़ाम करने गया है, मैं यहाँ मरी जा रही हूँ।

स्टेशन से गाड़ी चलने में कुछ ही मिनटों की देर थी। महिला-कक्ष में हो-हल्ले की ख़बर टी.टी. को लग गयी, वह जैसे ही अन्दर घुसा कि गाड़ी सीटी बजा कर भक् भक् करती हुई आगे बढ़ने लगी। टी.टी. को देखा, अम्माजी उछल कर उठ पड़ीं, आव देखा न ताव, पहले रेल की ज़ंजीर खींची फिर उन तीनों मुसलमान बुर्कावालियों को दिखा कर बोलीं—उतारो पहले इन मुसण्डों को, तभी गाड़ी आगे चलेगी।

बुर्के के अन्दर छिपे शरीरों में हलचल हुई, मिनट, दो मिनट के लिए यात्री और टी.टी. सभी सकते में आ गये। इधर ज़ंजीर खींची जाने की वजह से गार्ड के साथ-साथ बन्दूकधारी फ़ौजी जवान भी डिब्बे में घुस आया।

'तान दो एक के सीने पर बन्दूक, कहीं छुरा-वुरा निकाल कर किसी को घायल न कर दें,' अम्माजी बोलीं।

जवान ने बन्दूक को ज़रा ऊपर उठाया नहीं कि उनमें से एक बोल पड़ी—ऐ है, अन्धेर है, क्या हम तुम्हें मर्द दीखते हैं? ख़ामख़ाह यह बुढ़िया बके जा रही है।

नारी स्वर!! ऊपर उठी बन्दूक नीचे आ गयी, टी.टी. के माथे पर शिकनें उभर आयीं। डिब्बे की महिलाएँ एक-दूसरे को देख मुस्कुराने लगीं! आवाज़ सुन कर एक क्षण के लिए अम्माजी का चेहरा भी उतर गया लेकिन फिर बोल उठीं—अरे, मेरी आँखें कभी धोखा नहीं दे सकतीं, ये तीनों मर्द हैं, यह आवाज़ बना कर बोल रहा है, बुलवाओ अभी इन दो छोकरों से या लाओ मैं ही इनका बुर्का हटाये देती हूँ, सारा परदाफ़ाश हो जायेगा।

दोनों युवतियाँ सहम कर पीछे हट गयीं। तीसरी बोली—टी.टी. साहब, दोनों मेरी बहुएँ हैं, यह सिरफिरी बुढ़िया आप लोगों के सामने इनका बुर्का उतरवाना चाहती है। पता नहीं कहाँ की पागल चढ़ आयी है, फेंक दो इसे डिब्बे के बाहर। अच्छी फ़जीहत की है इसने हमारी।

"अरे मरदूद..." चीते की-सी तेज़ी से लपक कर सबसे ठिगनी दीखने वाली के ऊपर अम्माजी ऐसी उछलीं कि वह वहीं गिर पड़ी, उतनी ही तेज़ी से उसका मुँह उघाड़ कर रख दिया।

महिलाएँ चीख पड़ीं, युवती का स्वर निकालने वाले मर्द के बुर्के के अन्दर ज्यों ही कुछ हलचल सी हुई कि फ़ौजी की बन्दूक की नली उसकी छाती पर आ लगी—'जेब से कोई हथियार निकालने की कोशिश न करो वरना यहीं भून दिये जाओगे।'

दोनों बहुएँ निकलीं दो युवक और सास निकली, हट्टा-कट्टा पुरुष, उनका नेता। उसी समय उनके पास से तीन छुरे बरामद हुए।

टी.टी., गार्ड, फ़ौजी जवान सब अम्माजी को बार-बार प्रणाम करके ज्यों ही उन तीनों लुटेरों को लेकर बाहर निकले कि डिब्बे की सभी औरतें रो-रो कर उन्हें धन्यवाद देने लगीं, प्रणाम करने लगीं। अम्माजी भी कातर होकर बोल उठीं—बेटियों की रक्षा करना माँ का कर्तव्य है। प्लेटफ़ॉर्म पर उनकी चहलक़दमी, उनकी हरकतें मैं निरन्तर देखे जा रही थी। अरे, कई चोर-उचक्कों से पाला पड़ चुका है मेरा, ये आँखें अब पारखी हो चुकी हैं, धोखा नहीं देतीं।

यह कहने का अब कोई तुक नहीं कि उनकी शेष यात्रा कैसे कटी। जहाँ सिकुड़ कर बैठने की भी जगह मिलना मुहाल हो गया था वहाँ स्वयं टी.टी. ने आकर उन्हें पहले दरजे में चलने का अनुरोध किया, वे टस-से-मस न हुईं, बोलीं—मेरी इन बेटियों को भी ले चले तो चली चलूँ।

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

Date of Publication: 1st May 2019 (Monthly)
Rs. 30

A school by The Vatika Group vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 4. My son's journey with this school started 5 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 4

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2018-19

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 onwards

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gurugram
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gurugram
+91 124 4681600, +91 9821786363